अर्थशास्त्रप्रवेशिका ।

अर्थात्

अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त ।

जिसे

पण्डित गणेशदत्त पाठक ने लिखा

और

इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ने छापकर
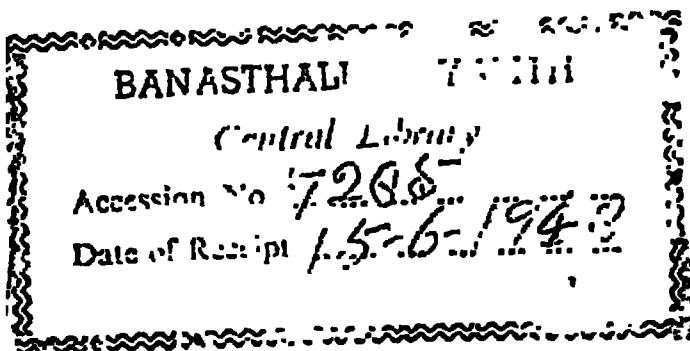
प्रकाशित किया ।

सन् १९११ ई०

द्वितीयावृत्ति] [मूल्य । ,

भूमिका

भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में अर्थ-शास्त्र का ज्ञान, यहाँ के लोगों के लिए अत्यावश्यक है; परन्तु हिन्दी-भाषा में, जिसे अधिक लोग समझ सकते हैं, कोई ग्रन्थ तद्विषयक वर्तमान नहीं है। इस अभाव के दूर करने के अभिप्राय से यह प्रयत्न किया गया है। वह कहाँ तक सफल हुआ है यह पाठक गण स्वयं विचार करेंगे।

पुस्तक में इस शास्त्र के सामान्य नियमों का ही वर्णन किया गया है। यदि आवश्यकता हुई तो इस विषय का बड़ा ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न करूँगा।

इसमें भाषा आदि की अनेक त्रुटियाँ होंगी। यदि दूसरी आवृत्ति छपने का सौभाग्य इस ग्रन्थ को प्राप्त हुआ तो इसका और परिष्कार हो जायगा। इंडियन प्रेस के सत्त्वाधिकारी ने इसका प्रकाशित करना स्वीकार किया इसलिए उन्हें विशेष धन्यवाद है।

मंडला,

गणेशदत्त पाठक।

१६—७—०७

विषयानुक्रमणिका ।

अर्थशास्त्रप्रवेशिका

अर्थ-शास्त्र

अर्थ-शास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें राष्ट्रों के धन का विवेचन होता है। एक राष्ट्र अन्य राष्ट्र से धन में क्यों अधिक अथवा न्यून है? इसके कारण का अनुसन्धान करना इस शास्त्र का काम है। राष्ट्र व्यक्तियों से बनता है, इसलिए व्यक्तियों की ही सधनता अथवा निर्धनता के अनुसार राष्ट्र की सधनता अथवा निर्धनता होती है। अतएव जो शास्त्र राष्ट्र की सधनता आदि का अनुसंधान करता है उसको व्यक्तिगत सधनता आदि का भी अनुसन्धान करना पड़ता है। इस तरह इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य यह है कि धन के आने जाने के नियमों का विचार करे। उन नियमों का पालन करने से एक राष्ट्र अपने ग़रीब व्यक्तियों को असाधारण क्षमतावान् और धनी बनाने का उद्योग कर सकता है। हिन्दुस्तान आज कल, अत्यन्त दरिद्र देश है। वह क्यों इतना दरिद्र होगया है और उसके सुधरने के कौन से प्राकृतिक नियम हैं? यह बात अर्थशास्त्र के नियम ही जानने से मालूम हो सकती है, इसलिए उन नियमों का विशेष रीति से सर्व साधारण में प्रचार होने से बहुत लाभ होने की सम्भावना है। इसी अभिप्राय से कुछ मूल नियमों की यह छोटी सी पुस्तक लिखी गई है।

यह शास्त्र कब से प्रचलित हुआ, इसका ज्ञान होना आवश्यक है। जहाँ तक जाना जाता है, प्राचीन काल में, भारतवर्ष में इस शास्त्र की कुछ भी चर्चा नहीं थी। इँग्लैंड में भी यह शास्त्र बहुत नवीन है और अभी तक पूर्णावस्था को प्राप्त नहीं हुआ है, इँग्लैंड में इसका प्रारम्भ आडम स्मिथ नामक ग्रन्थकार से हुआ। उसने "राष्ट्रों का धन" नामक ग्रन्थ लिखा। उसके पश्चात् अनेक ग्रन्थकारों ने उसे उन्नत किया। उन सबका वृत्तान्त इस शास्त्र के इतिहास में लिखा जायगा। यहाँ हम मुख्य बातों ही का प्रारम्भ करते हैं।

सबसे पहले यही विचारना चाहिए कि अर्थ या धन कहते किसे हैं? क्योंकि यह ऐसा शब्द है जिसको सब जान कर भी नहीं जानते। साधारण लोगों का यही विचार है कि धन रुपया को कहते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। बहुत से मनुष्य धनवान् तो कहलाते हैं पर उनके पास रुपया नहीं रहता और लाखों का कारबार केवल काग़ज़ से करते हैं। इसी तरह ज़मीन भी धन नहीं हो सकती क्योंकि किसी मनुष्य के अधिकार में हज़ारों एकड़ ज़मीन रह कर भी वह भूखों मरता है और कोई थोड़े से ज़मीन के टुकड़े में भी अन्न पैदा करके खा सकता है। क्योंकि विना परिश्रम किये और बुद्धिमत्ता के साथ उसका विना उपयोग किये उसमें से कुछ प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि सोना, चाँदी, ज़मीन आदि धन नहीं हैं। धन उसे कहते हैं जो विनिमयसाध्य हो, अधिक परिणाम से न मिलता हो, और प्रयोजन में आता हो।

ऊपर की परिभाषा से मालूम पड़ता है कि जो द्रव्य उपयोग में आता है और विनिमयसाध्य है अर्थात् एक वस्तु के बदले में

दिया जा सकता है तथा कम मिलता है उसे ही धन कहते हैं। यदि वह वस्तु बहुत मिलती हो तो उसे धन नहीं कह सकते। क्योंकि उसके बदले में अन्य वस्तु कोई देगा भी नहीं, क्योंकि उसको वह भी सामान्य रीति से पा सकता है।

किसी को एक विद्या सिखा कर उससे दूसरी विद्या सीखने में भी विनिमय है। परन्तु यहाँ पर केवल उसी धन की आलोचना होती है जो हस्तान्तरित हो सकता है। धन उपयोगी भी होना चाहिए। जो वस्तु हमें किसी प्रकार का सुख देती है अथवा दुःख का निवारण करती है वह उपयोगी होती है। जैसे हमें बीमारी से बचाने के लिए सोना चाहिए। उसके लिए पलंग आवश्यक है। पलंग बनाने के लिए औज़ार भी आवश्यक हैं।

उपयोग

ऊपर कह चुके हैं कि उपयोगी वे ही वस्तुएं हैं जिनकी हमें आवश्यकता होती है, जिन्हें हम चाहते हैं। हमारी आवश्यकता भी भिन्न भिन्न प्रकार की है। ऐसा नहीं होता कि हम एक प्रकार की वस्तु पाकर सन्तुष्ट हो जायँ। जैसे—हम, यदि, भोजन की आवश्यकता अनुभव करते हैं तो उसके लिए चावल पा जाने से ही संतुष्ट नहीं रहते। थोड़ा चावल, थोड़ी दाल, थोड़ा नमक और कुछ शाक आदि चाहते हैं। यदि पढ़ने के विषय में देखें तो भी यही बात है। एक ही प्रकार की बहुत सी पुस्तक हम नहीं पढ़ना चाहते। कुछ उपन्यास, कुछ नाटक, कुछ इतिहास आदि भिन्न भिन्न प्रकार की पुस्तकें हम संग्रह करते हैं। इस तरह अनेक आवश्यकताओं का विचार करने से मालूम होता है कि मनुष्य की आवश्यकता विविध प्रकार की है। कोई

कोई भी एक आवश्यकता पूर्ण होते ही अन्य आवश्यकता आ खड़ी होती है। इस नियम को "आवश्यकता का वैविध्य" नामक नियम कहते हैं।

इस प्रकार आवश्यकता में विविधता रहने पर भी, उसमें एक विशेष क्रम देखने में आता है। एक मनुष्य को उसकी प्राकृतिक स्थिति में छोड़ दो तो सबसे पहले उसे हवा की ज़रूरत होगी। बिना वायु के वह श्वास नहीं ले सकता। बाद, उसे भूख सतावेगी। उस समय वह यही चाहेगा कि केवल चावल मात्र मिल जाय तो उसीसे अपनी क्षुधा निवृत्त कर ले। किसी प्रकार चावल मिलने पर उसे दाल की इच्छा होगी। इस तरह वह खाने की वस्तुओं में ही अपनी इच्छा प्रकाश करेगा। जब खाने को मिलने लगेगा तब उसे इच्छा होगी कि वस्त्र पहिनें। उससे शरीर का बचाव होता है। उस समय उसे एक धोती या चादर की ही चाह होगी। उसके मिलने पर कोट कुर्ता आदि की भी इच्छा होगी। वस्त्र मिलने पर उसे रहने के लिए घर की चाह होगी। पहले वह एक छोटे से कमरे ही को बहुत समझेगा। धीरे धीरे सोने का अलग, बैठने का अलग, रसोई का अलग इत्यादि कई कमरे चाहेगा। इस तरह एक आवश्यकता मिटते ही अन्य आ पहुंचती है। जैसे एक कवि ने कहा है:—

निस्स्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो,
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।

चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति,

ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः ।'

अर्थात् जिसके पास कुछ द्रव्य नहीं है वह चाहता है कि मेरे पास सौ रुपये हो जायँ। जिसके पास सौ रुपये हैं वह चाहता है कि मेरे पास एक हज़ार हो जायँ। हज़ारवाला लाख चाहता है। लाखवाला राजा होना और राजा चक्रवर्ती होना। चक्रवर्ती इन्द्र होना चाहता है। इन्द्र ब्रह्मा का पद, ब्रह्मा विष्णु का पद, विष्णु शिव का पद प्राप्त करना चाहते हैं। तृष्णा की अवधि तक कौन पहुँचा है? अर्थात् कोई नहीं।

इस तरह एक आवश्यकता के मिटते ही दूसरी आ पहुँचती है। परन्तु उनमें मुख्य क्रम यही है कि जो वस्तु प्राण-धारण के लिए जैसी जैसी आवश्यक है उनकी आवश्यकता उसी प्रकार पहले पहल होती है। भोग-विलास की सामग्री पीछे चाही जाती है।

इसी तरह आवश्यकता का एक साधारण क्रम इस प्रकार दिखाई पड़ता है। वायु, भोजन, पानी, वस्त्र, गृह, विलाससामग्री आदि।

इस आवश्यकता की बात को अच्छी तरह ध्यान में रखने से यह मालूम होगा कि अगर हम किसी प्रकार का धन अधिक परिमाण में उत्पन्न करें तो वह चाहे उस इच्छा के लिए अधिक हो परन्तु यह नहीं हो सकता कि हमको धन उत्पन्न करने का काम बन्द कर देना पड़े। बहुत लोग सोचते हैं कि अगर यन्त्रों के द्वारा काम बहुत हो जायगा और अधिक वस्तु उत्पन्न होने लगेगी तो

मज़दूरों का रोज़गार मारा जायगा; परन्तु यह ठीक नहीं है। ऊपर के आवश्यकता के नियम को विचार-पूर्वक सोचने से ही मालूम हो सकता है कि यदि एक वस्तु किसी यन्त्र आदि की सहायता से अधिक उत्पन्न होने लगेगी तो दूसरी वस्तु की आवश्यकता आखड़ी होगी। और मज़दूर उस काम में लगाये जा सकते हैं जो उस समय उपयोगी हो।

अब यही विचारना चाहिए कि कौन वस्तु उपयोगी है और कौन नहीं? ऊपर कह ही चुके हैं कि उपयोगी वस्तु वही होगी जिसे हम चाहते हों। अच्छा तो हम वायु बहुत ज़्यादा चाहते हैं तो क्या वह भी धन है? नहीं। क्योंकि वायु हमें बहुत मिल सकती है, इसी से वह धन में नहीं गिनी जा सकती। यदि हम किसी कोठे में बन्द हों, जहाँ हवा के आने जाने का मार्ग नहीं है, तो हमें वहाँ वायु की आवश्यकता होगी और उस स्थान में वह न मिलने के कारण धन हो सकेगी। इसी से कहा गया है कि धन उपयोगी हो कर कम परिमाण में मिलना चाहिए।

आवश्यकता जानने से हमारा बड़ा उपकार हो सकता है। अर्थशास्त्र से लाभ उठाने के लिए यह एक मुख्य बात है। जो वस्तु जिस समय आवश्यक है वही तैयार करने से अधिक लाभ हो सकता है। जो वस्तु बहुतायत से मिल रही है उसको बड़ा परिश्रम भी करके तैयार करने से कोई लाभ नहीं। जैसे देश में धोती की आवश्यकता अधिक है। ऐसे समय में धोती ही बनाने से लाभ होगा। टोपी आदि वस्तुओं से नहीं। इसी प्रकार जो वस्तु तैयार हो वह आवश्यकता से अधिक न हो, नहीं तो उस से भी लाभ नहीं हो सकता। वस्तुओं के उत्पन्न करने में जहाँ तक हो सके वहाँ तक कम परिश्रम से उसे तैयार करना चाहिए।

क्योंकि परिश्रम करना एक दुःख का काम है और यह मनुष्य का धर्म है कि जहाँ तक हो कम परिश्रम करना चाहता है।

जितनी वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं वे सब ख़र्च करने के लिए ही की जाती हैं। परन्तु उन्हें ख़र्च कब करना चाहिए? इसका विचार करने के पहले हमें यह देखना चाहिए कि ख़र्च किसे कहते हैं और उत्पन्न करना क्या है? मनुष्य भौतिक पदार्थों को उत्पन्न नहीं कर सकता। वह असल में उपयोगिता उत्पन्न करता है। अर्थात् वह उसको इस प्रकार का रूप देता है जिसमें वह किसी आवश्यकता को पूरी कर सके। उसका केवल इतनाही काम है कि पदार्थ को इस क्रम में ला दे जिसमें वह पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो सके। जैसे किसी लकड़ी से जब वह एक मेज़ बनाता है तब उस लकड़ी को केवल ऐसे रूप में बदल देता है जिसमें वह पहले से अधिक उपयोगी हो जाती है।

कोई कोई कहते हैं कि जो कारीगर कोई वस्तु तैयार करते हैं वे तो उत्पन्न करते हैं परन्तु जो केवल बनी हुई वस्तुओं को ख़रीद कर बेचते हैं वे उत्पन्न करनेवाले नहीं कहे जा सकते। यह बात ठीक नहीं है। दोनों प्रकार के मनुष्यों का काम उपयोगिता उत्पन्न करने का है। जैसे बढ़ई ने उसके आकार का परिवर्तन करके उस में अधिक उपयोगिता उत्पन्न कर दी, उसी प्रकार मेज़ आदि का व्यापारी भी उन्हें ऐसे स्थान में इस प्रकार रखता है जिसमें वह पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो जाय। सारांश उत्पन्न करने का अर्थ यही है कि उसमें अधिक उपयोगिता लादी जाय।

किसी वस्तु के ख़र्च करने का अर्थ उसकी उपयोगिता का नाश करना है। जैसे किसी वस्तु को इस प्रकार के आकार में

परिवर्तन करना जिससे उपयोगिता बढ़ जाय, इसे उत्पन्न करना कहते हैं। उसी तरह किसी वस्तु को ऐसे आकार में विकृत करना जिसमें उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाय, इस को ख़र्च करना कहते हैं। वस्तुओं की उपयोगिता कई प्रकार से नष्ट होती है। उनके बिगड़ जाने से—जैसे भोजन। पुराने हो जाने से—जैसे पञ्चाङ्ग। इसलिए हमें उन वस्तुओं को उसी समय काम में ले आना चाहिए जब तक उनकी उपयोगिता नष्ट न हो गई हो। इसी तरह किसी वस्तु का जितना उपयोग हो सका उतना हमको कर लेना चाहिए। एक पुस्तक को एक बार पढ़ लेने से उसकी उपयोगिता का नाश हो गया, परन्तु अन्य व्यक्ति के लिए नहीं हुआ। उसे पढ़ने को देने से उतनीही वस्तु से अधिक उपयोग हो गया। इसी कारण पुस्तकालय आदि की उपयोगिता अधिक होती है। जो लोग कुछ समय कमाते हैं और कुछ समय बेरोज़गार रहते हैं उन्हें अपनी सब प्राप्ति अपने रोज़गार के ही समय न ख़र्च कर डालना चाहिए। कुछ आगे के लिए भी रखना चाहिए क्योंकि उस समय उनके असल उपयोग का काल रहेगा। उनकी भोगविलास की वस्तु उस असल समय में काम आ सकती है।

अवश्यही यह स्वीकार करते हैं कि धन ख़र्च अर्थात् भोग करने ही के लिए है। परन्तु ऐसे समय में जब वह मिलता है तब तो ख़र्च होता ही है पर जब वह न मिलेगा तब के लिए भी रहना चाहिए। इसी कारण साधारण सामग्री जिनसे अपना कार्य्य चल सकता है उनके बदले बहुमूल्य वस्तु व्यवहार करने से केवल धन नाश मात्र होता है। जब व्यक्तिविशेष के विषय में यह हाल है तो राष्ट्र के विषय में भी ऐसा ही होना चाहिए। भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में धन के उत्पन्न करने के मार्ग सब बन्द हो गये

हैं। प्रत्येक व्यापार इस देश से उठ गया है। ऐसी स्थिति में अनेक भाेग विलास की सामग्री जाे विदेश से आती है उसे इस देश के लाेग आँख मूँद कर लेते हैं और व्यर्थ इस देश का धन नाश करते हैं। खाद्य द्रव्य ही में देखिए, हज़ाराें वस्तु आती हैं। क्या जाे लाेग उन वस्तुआें काे नहीं लेते उनका जीना नहीं हाे सकता? फिर व्यर्थ अप्रयाेज़नीय द्रव्य लेकर अपने देश का धन नष्ट करना, अपने देश के लाेगाें काे उचित नहीं है। वही द्रव्य देश में रहने से आगे अनेक कार्याें में उपयाेगी हाे सकता है।

आवश्यकता

मनुष्य की इच्छा और आवश्यकता असंख्य और अनेक प्रकार की हैं परन्तु वे सब एक सीमा के भीतर की ही बहुधा हाेती हैं और उन की पूर्ति भी हाे सकती है। असभ्यावस्था में मनुष्य की आवश्यकता बहुत थाेड़ी हाेती है। सभ्यता के साथ साथ उस की आवश्यकताओं की भी वृद्धि हाेती है। पहले जितनी वस्तु उसे प्राप्त हाेती थी उसे परिमाण में अधिक ही नहीं वह प्रकार में भी अधिक चाहने लगता है। उसकी मानसिक शक्ति की वृद्धि के साथ साथ नई नई इच्छायें उत्पन्न हाेती हैं। यदि पहले वह कन्द मूलही खाकर अपनी पालना कर लेता था ताे अब उसे पका हुआ अन्न चाहना पड़ता है; आग बनानी पड़ती है। बहुत दिन तक एकही प्रकार का अन्न खाते खाते उसे कई प्रकार के अन्न खाने की इच्छा हाेती है। उसकी भूख भी एक सीमाबद्ध है। इसलिए उसे अधिक ताे खाही नहीं सकता तब वह दूसराें काे खिलाने की इच्छा करता है। यह हुई खाने की बात। इसी प्रकार और बाताें में भी उसकी ऐसीही इच्छा हाेती है। और वह

जितना अपने कामों में नहीं ख़र्च करता उससे कई गुना अधिक केवल दिखाने के लिए करता है। दिखाने की इच्छा मनुष्य में इतनी प्रबल और सर्वव्यापी है कि वह सब काल में, सब मनुष्यों में, वास करती है और मनुष्य के मनोविकारों में सबसे बलवती कही जा सकती है।

वायु आदि से शरीर को बचाने के लिए वस्त्र की आवश्यकता होती है। और वस्त्र देश के जल-वायु के अनुसार होना चाहिए। यह एक स्वाभाविक बात है। परन्तु कृत्रिम आवश्यकताओं के सामने स्वाभाविक आवश्यकता आप ही दब जाती है। भारतवर्ष में सादे कपड़े और धोती से निर्वाह हो सकता है, परन्तु एक प्रकार के मनुष्य कोटपतलून आदि पहनते हैं, इस लिए उनसे न्यून न समझे जायँ—यही सोच कर बहुत से लोग वैसी ही पोशाक पहनते हैं। यद्यपि वह यहाँ के लिए उपयोगी नहीं है। इस तरह नये नये प्रयत्न और उनके साथ आवश्यकतायें भी उत्पन्न होती जाती हैं।

सारांश यह कि यद्यपि सब से पहले आवश्यकता ही के कारण मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु पीछे ज्यों ज्यों वह अग्रसर होता जाता है त्यों त्यों उसके प्रयत्न आवश्यकताओं को उत्पन्न करते जाते हैं।

धनोत्पत्ति

आवश्यकता का ज्ञान होने पर उस आवश्यकता के लिए वस्तु को बनाने का ज्ञान हमें करना चाहिए। पर धन उत्पन्न करनेके

लिए कौन कौन बात की आकांक्षा होती है—यह हमें विचारना चाहिए। सोचने से मालूम पड़ेगा कि धन-उत्पादन में मुख्य तीन मूल साधन हैं (१) भूमि, (२) परिश्रम (३) मूलधन। उत्पादन के कार्य्य में जब हम इन तीनों को एकत्रित करते हैं तब धनोत्पत्ति होती है। अब हम प्रत्येक का अलग अलग विचार करते हैं।

भूमि—जितनी वस्तु हम व्यवहार करते हैं अथवा अन्य को व्यवहार करते देखते हैं वह भौतिक हैं और पृथ्वी के भीतर, पर्वत पर, अथवा समुद्र आदि से प्राप्त हुई हैं। उनमें मूल धन और परिश्रम के कारण रूपान्तर हो गया है। पर वे हैं उसी स्थान से प्राप्त। जो अन्न हम भोजन करते हैं वह पृथ्वी से प्राप्त हुआ है। जो वस्त्र हम पहिनते हैं वह कपास के सूत से बना है। वह भी पृथ्वी से ही पैदा होता है। नमक जो हम व्यवहार में लाते हैं वह या तो खान से निकला है या समुद्र के जल से बनाया गया है। जब तक हमारे पास पदार्थ न हो हम धन उत्पन्न नहीं कर सकते। हमें अपनी अभीष्ट वस्तु तैयार करने के लिए योग्य पदार्थ खोजना चाहिए और ये योग्य पदार्थ जिस स्थान से प्राप्त होते हैं वह धन-उत्पादन में स्वाभाविक साधन कहाता है। उसे इस शास्त्र में "भूमि" कहते हैं। भूमि कहने से उन सब स्थानों का बोध होता है जहाँ से धन बनाये जाने के लिए पदार्थ प्राप्त होता है। भूमि कहने से नदी और समुद्र आदि का भी ग्रहण करते हैं। इनसे उत्पन्न वस्तु को मूलधन और परिश्रम की सहायता से धन बनाते हैं। मनुष्य जब अधिक मूलधन और परिश्रम लगा कर द्रव्य मूलयुक्त करना चाहते हैं तब लाभ में न्यूनता होती है। भूमि से उत्पन्न सामग्री एक स्वाभाविक नियम के अधीन

मूल्ययुक्त हो लाभ देती हैं। इस नियम को "उत्पादकता का क्रमह्रास" कहते हैं। जैसे किसी ज़मीन में, जो स्वच्छ होगई है, कोई खेती करना चाहता है तो वह उस ज़मीन का इतना अंश अपने उपयोग में लावेगा जितने में वह समझेगा कि मेरे परिश्रम और मूलधन में अधिक से अधिक लाभ होगा। वह एक ही बीघा में बहुत अधिक अन्न उत्पन्न हो—यह नहीं चाहता। उसकी इच्छा यही होती है कि इतने ख़र्च से जितनी अधिक फ़सल उत्पन्न हो सके हो। इसलिए वह अपने सँभालने लायक़ ज़मीन बोता है। यदि वह इससे ज़्यादा जोत ले और फिर उसे मूलधन और मिल जाय और वह उसी ज़मीन में लगावे तो पहले से अधिक लाभ अवश्य होगा। परन्तु उसने अपना अंदाज़ ठीक कर लिया है और उतनी ही ज़मीन जोतता है जितनी उसे अधिक से अधिक लाभ दे सकती है और इस पर भी यदि वह अपने परिश्रम और मूल धन को समेट कर थोड़ी ज़मीन में ही लगाना चाहे तो उस अधिक मूल धन और परिश्रम से उसे लाभ न होकर उसके लाभ का ह्रासही होगा। क्योंकि उसमें इतना मूलधन और परिश्रम लगाने से जो अधिक फ़सल होगी वह मूलधन आदि की अधिकता के अनुपात में न होगी, अर्थात् पहले जितने मूलधन और परिश्रम से जितना फ़ायदा हुआ था उतना अब नहीं होगा। यह नियम किसी ज़मीन से जो वस्तु उत्पन्न होती है उसके परिमाण से सम्बन्ध रखता है। उसके मूल्य से नहीं। क्योंकि मूल्य अन्य बातों पर निर्भर है; जिनका वर्णन आगे किया जायगा जैसे किसी ज़मीन के निकट से रेल निकल जाय तो उसका असर वहाँ के आस पास के उत्पन्न सस्य के मूल्य पर अवश्य होगा।

परिश्रम

ऊपर भूमि का वर्णन कर आये हैं। भूमि अथवा स्वाभाविक साधन से ही सब धन उत्पन्न नहीं हो सकता। किसी भी स्थान में रहें, चाहे जंगल हो, चाहे अच्छी उर्वरा भूमि हो, चाहे समुद्र हो, परन्तु विना परिश्रम कोई भी पदार्थ उसमें से उपयोग में नहीं लाये जा सकते। जंगल में बहुत फलों से पूरित वृक्ष लगे हैं। कोई मनुष्य वहाँ जाकर बैठे रहने से उन्हें नहीं खा सकता। उसे परिश्रम करके तोड़ कर खाना पड़ेगा, तब उसके शरीर की रक्षा होगी। नहीं तो भूख से शरीर नष्ट हो जायगा। इसी तरह हमें अपने वस्त्र खाद्य आदि के सम्पादन करने में भी बहुत परिश्रम स्वीकार करना चाहिए, तब हम आराम से रह सकते हैं। प्रत्येक वस्तु को संग्रह करना, उसे ऐसे रूप में बनाना जो अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर सके, इसमें परिश्रम चाहना पड़ता है। जितना अधिक परिश्रम मनुष्य करेगा उसी के अनुसार उसे धन भी प्राप्त होगा; क्योंकि उसके परिश्रम अधिक होने से अधिक काम होगा और वस्तु भी अधिक उत्पन्न होगी।

बंगाल आदि प्रदेशों में कोयले की अनेक खानें हैं। वहाँ वाले बहुत काल से वहाँ रहते हैं। परन्तु उससे धन उत्पन्न करने का किसी को सौभाग्य नहीं हुआ। अँगरेज़ लोगों ने उस से कोयला निकालना प्रारम्भ किया है। वह अब धन हो गया है क्योंकि परिश्रम के द्वारा वह वहाँ से बाहर निकाला जाता है। अपनी प्राकृतिक अवस्था में उसका कोई मूल्य न था। परिश्रम की सहायता से वह धनरूप में परिणत हो गया। जितना अधिक परिश्रम किया जायगा उतना ही अधिक कोयला निकलेगा और

वह उतना ही अधिक धन कहलाएगा। परन्तु ऐसे परिश्रम से काम नहीं चल सकता जो विना नियम और बुद्धि के किया जाय। यदि कोयला निकालने में नियमानुसार खान आदि न खोदी जाय तो उससे कोयला न निकलेगा और धन भी उत्पन्न न होगा।

किसी वस्तु के तैयार करने में कितना परिश्रम लगता है इस बात का अनुमान अत्यन्त कठिन काम है। क्योंकि किसी भी एक वस्तु के बनाने में जो वस्तु लगी हैं उनमें जो परिश्रम लगा है उसका भी विचार करना चाहिए फिर उसमें लगी हुई वस्तुओं का भी विचार करना चाहिए। इस तरह असंख्य वस्तुओं का विचार करना असम्भव है। जैसे हम किसी खाने की सामग्री में क्या परिश्रम लगा है यह विचार करना चाहते हैं तो पहले आटा से रोटी बनी—उसका परिश्रम, आटा बनाने का परिश्रम, गेहूँ उत्पन्न करने का परिश्रम, ज़मीन तैयार करने का परिश्रम आदि सब का ख़याल करना चाहिए, तब फिर उन में जो सामग्री लगी है जैसे हल, उसे बनाने में जो सामग्री लगी उसका परिश्रम, इत्यादि का विचार करना पड़ेगा।

परन्तु इन क्षुद्र क्षुद्र परिश्रमों का असर किसी सामग्री पर इतना कम पड़ता है कि उनके द्वारा उस सामग्री के मूल्य पर कुछ असर नहीं दिखाई देता। जो परिश्रम किसी सामग्री के तैयार करने में उसी समय काम पड़ता है उसे "प्रत्यक्ष परिश्रम" और जो उसके अन्य रूप के तैयार करने में लगता है उसे "परोक्ष परिश्रम" कहते हैं। परिश्रम जिसमें लाभकारक हो इसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए और यह तभी होगा जब थोड़े परिश्रम में काम अधिक हो। जिसमें परिश्रम व्यर्थ न जाय इसके लिए

हमें सबसे श्रेष्ठ समय और स्थान में श्रेष्ठ रीति से परिश्रम करना चाहिए।

जिस समय ख़ूब आसानी से काम हो सके और चीज़ भी अच्छी मिल सके उसी समय हमें वह काम करना चाहिए। अन्न के खेतों के काटने का जब ठीक समय रहता है उसी समय काटने से परिश्रम भी कम पड़ता है और उससे अन्न भी पका मिलता है। बीच में ही यदि किसी समय काट लिया जाय तो अन्न पका न रहने से लाभ कुछ न होगा। यदि कुछ दिन और छोड़ दिया जाय तो भी सब अन्न के भूमि पर गिर जाने से हानि होगी। इसी तरह प्रत्येक वस्तु में समय पर ही काम करने से कुछ लाभ हो सकता है।

उत्तम स्थान में परिश्रम करना चाहिए। यदि कोई अन्न उत्पन्न करना है और उसके लिए अच्छे कमाये खेत छोड़ कर किसी चट्टान पर बीज बो देवें तो उससे अन्न उत्पन्न न होगा। यदि मछली पकड़ना चाहते हैं तो भूमि पर जाल लगाने से मछली नहीं आ जायगी और परिश्रम व्यर्थ जायगा। जो देश जिस वस्तु के उत्पन्न करने लायक़ है वहाँ वही वस्तु उत्पन्न करने से लाभ होगा। हिन्दुस्तान अन्न का घर है। यहाँ अन्न की उपज से विशेष लाभ हो सकता है। कपास के लिए यहाँ की भूमि बहुत अच्छी है। उससे उत्पन्न कपास अन्य देश से आई हुई कपास का मुक़ाबिला कर सकती है। इसलिए यहाँ इन वस्तुओं का उत्पन्न करना योग्य है। लोहा आदि खनिज वस्तुएँ भी यहाँ बहुत हैं। उनसे भी लाभ हो सकता है परन्तु उसके साथ ही परिश्रम उत्तम रीति से होना चाहिए। इसके लिए हमें यह ख़याल रखना चाहिए कि परिश्रम करने वाला परिश्रम ख़राब न करे

और ग़लती न करे, एक ही काम को करने की अनेक रीतियाँ होती हैं परन्तु सबसे अच्छी रीति कौन सी है—यह पसंद करने के लिए श्रम करने वाला बुद्धिमान् और कुशल होना चाहिए। अथवा ऐसे आदमी के अधिकार में उसे कार्य्य करना चाहिए जिसे उसका ज्ञान हो। इस कार्य्य के लिए विज्ञान जानना चाहिए। किसी वस्तु को किस प्रकार मिलाने से या अलग करने से उस पर क्या परिवर्तन होता है—ये बातें विज्ञान के द्वारा मालूम होती हैं। जिस वस्तु के बनाने में वह श्रम करने वाला लगा है उसके विषय का वैज्ञानिक ज्ञान उसे अवश्य रहना चाहिए। इस ज्ञान के द्वारा वह उतना काम अन्य रीति से थोड़े परिश्रम में पूरा कर लेने की युक्ति सोच सकता है। जल और अग्नि के संयोग से भाप बनती है। उसमें कुछ शक्ति रहती है। वह शक्ति अधिक परिमाण में उत्पन्न करके काम में लाई जाय तो मनुष्यों का बहुत परिश्रम बच जाय। यही सोच कर भाप के यन्त्रों की सृष्टि हुई है। इसी प्रकार चित्रविद्या आदि विषयों में थोड़े परिश्रम से अधिक काम करने की युक्ति निकली है।

इसी तरह श्रम कम करने के लिए श्रम करने वालों में श्रम-विभाग होना आवश्यक है। श्रमविभाग एक स्वाभाविक बात है और वह समय बचाने में बहुत उपयोगी है। किसी गाँव या बस्ती में देखो तो मालूम होगा कि भिन्न भिन्न मनुष्य भिन्न भिन्न कार्य्य कर रहे हैं। कोई कपड़ा बनाता है; कोई बेचता है; कोई सूत कातता है; कोई रँगता है। एक जगह लोहार कीले बनाता है; दूसरी जगह सुनार ज़ेवर बनाता है; इत्यादि देखने से मालूम पड़ता है कि सब अपनी अपनी स्थिति के अनुकूल कार्य्य कर रहे हैं। पहनने के लिए कपड़ा चाहना हो तो एक ही

मनुष्य कपास उत्पन्न करने की क्रिया से लगाकर कपड़ा बनाने तक की सम्पूर्ण क्रियायें यदि करे तो उसके लिए असाध्य हो जायगा और उसके मुख्य काम भोजन आदि जिनसे प्राण रक्षा होती है उसमें व्याघात होगा। इसलिए थोड़ा थोड़ा काम अपनी रुचि और योग्यतानुसार करने से समय की बहुत बचत होती है। प्रत्येक परिवार में इसी तरह श्रम विभाग रहता है। घर का मुखिया घर की लगनें वाली सामग्रियों का संग्रह करता है, भोजन बनाने वाला भोजन बनाता है, इत्यादि। इसी प्रकार आज कल के व्यापार-धन्धों में भी श्रमविभाग से अधिक श्रम और समय बचता है। इस देश की अपेक्षा यूरोप आदि देशों में इस प्रथा के अधिक विचार होने से वहाँ मज़दूर महँगे मिलने पर भी वहाँ के व्यापारी यहाँ से सस्ती वस्तु उत्पन्न करते हैं। हमारे देश में भी इसका प्रचार हो चला है परन्तु अभी बहुत कम है। प्रत्येक कारख़ानों में श्रमविभाग रहता है। प्रबन्धकर्ता, लेखक, हिसाब रखनेवाला, हाज़िरी लेने वाला, चिट्ठी पत्री आदि का काम करने वाला, ये तो प्रायः सब में रहते हैं। कपड़े का यदि कारख़ाना है तो एंजिनवाला, सूत निकालने की कल देखने वाला, बुननेवाला इत्यादि अनेक लोग काम में अलग अलग लगे रहते हैं।

श्रमविभाग पर अधिक ध्यान खींचनेवाला आडम स्मिथ नामक लेखक हुआ। उसने इस विभाग में तीन लाभ बतलाये हैं।

(१) प्रत्येक श्रमजीवी में विशेष कुशलता बढ़ती है।

(२) एक कार्य्य को छोड़ कर दूसरे में लगने में जो समय नष्ट होता है वह बचता है।

(३) श्रम कम करने के लिए और एक मनुष्य के द्वारा बहुत काम हो सके—इसके लिए बहुत से यन्त्रों का आविष्कार होता है।

किसी एक कार्य्य को वारंवार करने से उसमें अभ्यास पड़ जाता है और वह काम पहले की अपेक्षा जल्दी होने लगता है। और क्रमशः अच्छी रीति से भी होने लगता है। एक लड़का जो केवल कीलें बनाना जानता है उस मनुष्य की अपेक्षा आधे समय में उन्हें बना लेगा जो बहुत अच्छा लुहार है, परन्तु कीलें कभी कभी बनाता है। यह केवल अधिक अभ्यास का फल है। सितार बजाने वाले जब पहले बजाना सीखते हैं उस समय एक एक पर्दा गिन गिन कर हाथ सरकाते हैं। धीरे धीरे जब उन्हें अभ्यास हो जाता है तब इतने शीघ्र उनका हाथ चलता है कि यही नहीं मालूम पड़ता कि उसने किस परदे पर हाथ रख कर बजाया।

जो लोग कपड़ा सीने का रोज़गार करते हैं और अकेले ही काटने, कच्चा सीने, मेशीन से पक्का सीने आदि का काम करते हैं उन्हें दिन भर में एकाध कपड़ा तैयार करने में बहुत थोड़ा लाभ होता है परन्तु जहाँ श्रमविभाग है वहाँ काटनेवाला अलग, कच्चा करनेवाला अलग और पक्का करनेवाला अलग रहता है। इस तरह साधारण से दुगना काम वे करते हैं, बल्कि और भी अधिक काम होता है और उन्हें लाभ भी अधिक होता है। यह उनकी कुशलता बढ़ने के कारण होता है।

श्रमविभाग का दूसरा लाभ समय की बचत है। स्मिथ का कथन है कि अन्य स्थान में अन्य यन्त्रों के द्वारा जो काम होता है उसमें अपने हाथ का काम छोड़ कर जाने में जो समय लगता

है वह व्यर्थ जाता है। एक जुलाहा जिसकी खेती है अपना कपड़े का काम छोड़ कर खेत का काम देखने जाय और वहाँ से फिर कपड़ा बुनने का काम देखने आवे तो बहुत समय नष्ट होता है। यदि भिन्न भिन्न प्रकार के काम एक ही कारख़ाने में होते हैं तब कम समय नष्ट होता है। परन्तु तब भी वह बहुत है। इस तरह एक काम छोड़ कर दूसरा काम हाथ में लेने के समय बहुत देर तक उसका चित्त एकाग्र नहीं होता इससे वह पूरी शक्ति से काम नहीं कर सकता। मिल का मत है कि यह बात पूर्ण रूप से सत्य नहीं है क्योंकि मनुष्य जब एकही प्रकार का काम करते करते बहुत समय में थक जाता है तब विश्राम के लिए दूसरे प्रकार का काम करने लगता है। भिन्न भिन्न प्रकार के कामों में भिन्न भिन्न प्रकार के अवयव काम में आते हैं इसलिए एक अवयव के काम में लगे रहने के समय अन्य को सुस्ताने का अवसर मिलता है। इस तरह एक काम छोड़ कर दूसरा काम करने में लगातार काम करने की शक्ति रहती है। यह सत्य होने पर भी आडम स्मिथ के सिद्धान्त में बहुत कुछ सत्यता है।

तृतीय लाभ नई मेशीनों का आविष्कार है। किसी काम को यदि एक मनुष्य करता रहे तो उसमें श्रम बचाने के लिए वह कुछ आविष्कार करेगा, और इस काम में जितना उसका मन अधिक लगेगा उतना ही आविष्कार अच्छा होगा। जिस मनुष्य को अनेक काम हैं वह प्रत्येक में उतना मन नहीं लगा सकता और इसीसे उसे नई हिकमत सूझ नहीं सकती। परन्तु यह बात केवल एक ही काम में लगे रहने के कारण नहीं हो सकती। यह काम करने वाले की बुद्धि और उद्योग का कारण होती है। जैसा रावर्ट्स स्टीफनसन आदि ने जो आविष्कार किये

वे श्रमविभाग के कारण नहीं परन्तु अपने कठिन अध्यवसाय, कुशाग्रबुद्धि श्रौर कलों के विषय में बहुकालव्यापी अभ्यास के कारण किये।

श्रमविभाग से सबसे बड़ा लाभ जो आडम स्मिथ ने नहीं कहा है वह यह है कि मनुष्यों की योग्यता के अनुसार कार्य का विभाग हो जाता है श्रौर इससे अन्त में बचत होती है। एक कारख़ाने के भिन्न भिन्न कामों में भिन्न भिन्न प्रकार की कुशलता श्रौर शक्ति चाहना पड़ती है, इसलिए जिनमें कुशलता अधिक है वे कुशलतावाले काम में, जिनमें शक्ति अधिक है वे शक्ति-वाले काम में, लगाये जा सकते हैं। जिस काम को सब ही कर सकते हैं उनमें वे लोग लगाये जा सकते हैं जो किसी काम के लायक़ नहीं हैं। संवादपत्र छापने का ही काम देखो। उसके लिखने के लिए अच्छे विद्वान् की आवश्यकता है। उसके कम्पोज़ करने के लिए कुछ साधारण पढ़े लिखे लोगों की आवश्यकता है। छापने, स्याही लगाने आदि के लिए केवल शारीरिक परि-श्रम करने वाले मज़दूरों की आवश्यकता है। जिसका जिस प्रकार काम है वैसाही उसको वेतन भी मिलता है। यदि संवाद-पत्र लिखनेवाला ही सब काम करे तो इसमें बहुत हानि हो। क्योंकि उसका जितना समय इस नीचे दर्जे के काम में लगेगा उसके लिए उसे वेतन तो ज़्यादा मिलेगा परन्तु काम वह होगा जो दूसरा कम वेतन वाला मनुष्य भी कर देता।

इस रीति से एक लाभ "श्रमसंहति" है। एक मनुष्य जो काम कर रहा है वही काम यदि बहुत लोग कराना चाहते हैं तो उसी एक मनुष्य के द्वारा वह काम कराने से प्रत्येक का ख़र्च बचेगा श्रौर वह मनुष्य जिस प्रकार एक का काम करेगा

उसी प्रकार और का भी कर देगा। उदाहरण के लिए डाकघर है। सब चिट्ठी भेजने वाले यदि एक एक डाक ले जाने वाले का प्रबन्ध करें तो अपरिमित ख़र्च पड़ेगा, परन्तु सबका प्रबन्ध एक ही जगह से होता है तो थोड़े से मनुष्य और ख़र्च से वह काम हो जाता है; क्योंकि जो चिट्ठी बाँटनेवाला एक चिट्ठी बाँटेगा वह पचीस बाँट देगा, इत्यादि।

जिस प्रकार श्रमविभाग से वस्तु उत्पन्न करने में सहायता मिलती है उसी प्रकार श्रमसंयोग से भी बहुत कार्य होता है। बहुत लोग श्रमविभाग पर तो बहुत ध्यान देते हैं, परन्तु श्रम-संयोग पर नहीं।

श्रमसंयोग दो प्रकार का है, एक मिश्रित दूसरा अमिश्रित। किसी काम के करने अथवा वस्तु के उत्पन्न करने में जितने श्रम करने वाले लगते हैं वे जब भिन्न भिन्न प्रकार के कई काम में लगे रहते हैं तब उसे मिश्रित कहते हैं, और जब सब लोग एक ही प्रकार का कार्य करते हैं तब वह अमिश्रित श्रमसंयोग कहलाता है।

समाचार पत्र ही के काम में कई लोग कई प्रकार का काम करके उसे प्रकाशित करते हैं। काग़ज़ बनाने वाला काग़ज़ बनाता है। टाइप बनानेवाला टाइप तैयार करता है। स्याही अन्यत्र ही कहीं बनती है। कम्पोज़िटर टाइप जोड़ता है। प्रूफशोधन करनेवाला उसे शुद्ध करता है छापने वाला छापता है। इस तरह अनेक भिन्न भिन्न कार्य भिन्न भिन्न लोग पूरा करते हैं। ये लोग विना यह जाने हुए कि हम अमुक एक कार्य के लिए यह कर रहे हैं, उस काम को पूरा करते हैं। इसी को मिश्रित श्रमसंयोग कहते हैं। किसी बड़े बोझ के उठाने में या अन्य किसी श्रम के

काम में जैसे नाव खेने में, पेड़ काट कर गिराने में, जो बहुत मनुष्य लगते हैं उनका श्रम सब का एक ही प्रकार के काम में लगा रहता है। उसे अमिश्रित श्रमसंयोग कहते हैं।

श्रमविभाग से कुछ हानि भी है। परन्तु उसके लाभों के सामने वह कुछ भी नहीं है। एक तो यह हानि है कि मनुष्य की शक्ति एकदेशीय हो जाती है। बहुत दिन तक एक ही प्रकार का अभ्यास करते करते उससे अन्य काम शीघ्र नहीं बन सकता। दूसरा यह कि समय के हेर फेर से जब कोई व्यापार कम हो जाता है और उसमें के काम करने वाले ख़ाली होते हैं तब जब तक दूसरा रोज़गार वे न सीख लें तब तक उन्हें ख़ाली रहना पड़ता है। ऐसा बहुत कम होता है, इस लिए इन्हें कोई भारी हानि नहीं कह सकते।

मूलधन

पहले कह चुके हैं कि धनोत्पादन में भूमि, परिश्रम और मूलधन ये तीन सहायक हैं। दो का वर्णन हो चुका, तीसरा मूलधन बाक़ी है। पहले के परिश्रम से उत्पन्न वस्तुसमूह को मूलधन कहते हैं। मूलधन का काम है उत्पन्न करना। मूलधन को बहुत लोग रुपया समझते हैं, पर यह भूल है। मूलधन विनिमय साध्य होना चाहिए और जो विनिमयसाध्य होगा वह उत्पादन की शक्तियुक्त भी होगा। यह सच है कि सब मूलधन को धन कह सह सकते हैं परन्तु सब धन मूलधन नहीं हैं। उसमें पूर्वोक्त गुण होने से ही वह मूलधन होगा। यदि एक मनुष्य के पास कुछ अन्न हो और वह विना परिश्रम किये केवल उसी अन्न को खाता जाय तो उसका अन्न मूलधन नहीं होगा, क्योंकि वह

उससे धनोत्पादन नहीं करता। किसी मनुष्य के पास कुछ बर्तनों का रोज़गार है। उसके यहाँ काम करने वाले मज़दूरों को अपने भोजन आदि सामग्री लेने के लिए कुछ रुपया चाहिए, वह उस रोज़गारी के पास है श्रैार वह उन मज़दूरों को रुपया देकर काम करवाता है; जो बर्तन तैयार होते हैं उन्हें बेंच कर वह रुपया बनाता है श्रैार फिर मज़दूरों से उसी प्रकार काम कराता है। कुछ तैयार माल उसके यहाँ रक्खा है। अब यह कुछ माल श्रैार उसका रक्खा हुआ रुपया मूलधन नहीं कहे जा सकते क्योंकि उन दोनों को सम्पूर्ण रूप से धनोत्पादन में नहीं लगाता। वह कुछ रुपया श्रैार बर्तनों की बिक्री का कुछ रुपया मिला कर अपने श्रैार अपने लड़के वालों के ख़र्च में लगाता है। जैसे घोड़े, गाड़ी, नैाकर या दान आदि के लिए ख़र्च करता है। सो सब मूलधन नहीं हैं। मूलधन केवल उतना भाग है जो नये धन उत्पन्न करने में लगाया हुआ है।

मूलधन का मख्य उपयोग यह है कि उसके द्वारा काम सबसे कम परिश्रम से हो सकता है। बिना मूलधन के यदि कुछ वस्तु उठाना है तो थोड़ा थोड़ा करके वहाँ से उठावेंगे। यदि कुछ मूलधन होगा तो थोड़ा परिश्रम करके एक टोकना बना कर बार बार आने।जाने का परिश्रम बचा कर दे। चार बार में ही सब उठा लेजाँयगे। यदि श्रैार अधिक मूलधन हुआ तो एक गाड़ी में उठा लेजाँयगे श्रैार अनेक बार आने जाने का परिश्रम बच जायगा। इतना ही नहीं आगे के लिए श्रैार भी कोई वस्तु उठा के ले जाने का काम पड़े तो उसमें भी यह गाड़ी काम आवेगी श्रैार परिश्रम बचेगा।

मूलधन दो प्रकार का है। एक तो स्थिर मूलधन कहलाता है, दूसरा अस्थिर मूलधन। स्थिर मूलधन में शिल्पशाला, यन्त्र, रेलवे, जहाज़, गाड़ी आदि वस्तुओं की गिनती है जो बहुत काल तक ठहरती हैं, और धन उत्पन्न करती हैं। अस्थिर मूलधन में भोजन कपड़े आदि वस्तुओं की गिनती है जो मज़दूरों के उस समय भरण पोषण के लिए आवश्यक होती हैं जब वे किसी धनोत्पादन के काम में लगे हों।

अस्थिर मूलधन वह मूलधन है जो एक व्यक्ति के पास स्थिर होकर नहीं रहता। जैसे किसी लोहे के कारख़ाने के मालिक ने अपना माल बनाने वाले मज़दूर को जो मज़दूरी दी वह मालिक के पास से निकल गई। एक बार ही उसका उपयोग करने पर वह उससे नष्ट होगई। अब मज़दूर यदि अपने ख़र्च करने पर उसमें से कुछ बचा कर किसी धनोत्पादन के काम में लगावे तो वह उस मज़दूर का मूलधन होगा। इस तरह वह मूलधन स्थिर नहीं है। परन्तु जो धन उस लोहे के कारख़ाने के औज़ार आदि में लगा हुआ है वह स्थिर है; क्योंकि वह एक बार के उपयोग से ही नष्ट नहीं हो जाता। अब स्थिर और अस्थिर मूलधन में भेद केवल समय का है। यह बात ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है। परन्तु कहीं कहीं इन दोनों का निर्णय करना कठिन होता है। जैसे आटा जल्दी भोजन कर लिया जाता है। वह अस्थिर मूलधन है। आटे की कल बहुत दिन रहती है इससे वह स्थिर मूलधन है। परन्तु आटे का बोरा प्रायः दोनों के बीचों बीच है; न तुरन्त नष्ट होता न बहुत दिन चलता उसको क्या कहना चाहिए?

मूलधन संचय का फल है। परीश्रम से उत्पन्न धनको संपूर्ण ख़र्च न करके कुछ बचा रखने से मूलधन की उत्पत्ति होती है। जो कुछ बचाकर आगे के उपयोग के लिए रक्खा जाता है उसके उपयोग के साथ साथ यदि हम और कोई वस्तु तैयार करें जो हमें धनोत्पादन में सहायता देगी तो हम उस वस्तु या कार्य में पूंजी लगा रहे हैं ऐसा कहा जायगा अथवा उसका यही अर्थ होगा कि हम अस्थिर मूलधन को स्थिर कर रहे हैं।

जिस प्रकार के अधिक स्थायी अथवा अल्पस्थायी रूप में धन लगाया जाता है उसी प्रकार अधिक या अल्प समय तक उससे धनागम होता है। वसूला प्रायः दस वर्ष तक रहता है। इतने समय तक उसके मालिक को उसमें लगी हुई पूंजी का वा परिश्रम का लाभ मिलता रहेगा, उस समय तक उसमें लगी हुई पूंजी व कुछ लाभ मिलाकर उसके बदले में मिल जाना चाहिए।

किसी कार्य में जो धन विनियोग किया जाता है अर्थात् पूंजी लगाई जाती है, वह केवल मज़दूरी की होती है। रेल में जो पूंजी लगाई गई है वह रेल में जिन लोगों ने काम किया है उनके उपयोग में आये हुए भोजन कपड़े आदि की समूह है। उसमें यन्त्र आदि भी काम में आये हैं परन्तु ये भी पहले उसी मज़दूरी से बने थे। इस तरह जब हम बहुत पहले तक का विचार करते हैं तब यही मालूम होता है कि मूलधन केवल मज़दूरों की मज़दूरी से होता है।

गेहूं की फ़सल एक वर्ष में आती है। इसलिए जो उसकी खेती करना चाहता है उसे एक साल तक के लिए खाने पीने

की पूँजी चाहिए। उसके बाद उसके परिश्रम का फल मिलेगा, परन्तु जो आम का वृक्ष लगाता है उसे पाँच छः वर्ष तक उसके बड़े होने तक राह देखना चाहिए और इसी से पूँजी भी ज़्यादा चाहिए। रेलवे आदि बड़े कामों में पूँजी बहुत कालके लिए लगाई जाती है इसीसे बहुत पूँजी चाहना पड़ती है।

जो लोग अपने रुपए के व्याज पर जीविका चलाते हैं वे कोई काम नहीं करते, जिससे धन उत्पन्न हो। उनका रुपया मूलधन समझा जायगा या नहीं ? हमारी समझ में वह मूल-धन है क्योंकि वह सब धन जिससे उसके स्वामी को कुछ प्राप्ति होती है और जिससे वह ख़र्च करे तो उसके धन में कमी नहीं वह मूलधन ही है।

धन-विभाग

पहले कह चुके हैं कि धन उत्पन्न करने के लिए भूमि, परि-श्रम, और मूलधन तीनों की आवश्यकता होती है, एक ही मनुष्य यदि इन तीनों का स्वामी हो तो उसमें जो कुछ लाभ होगा वह उसी को मिलेगा, परन्तु ऐसा अत्यन्त असंभव है। मज़दूर दूसरे के खेत में काम करता है। खेत में पूँजी दूसरे से लेकर लगाई गई है, इत्यादि कारणों से जो लाभ उस खेत में होता है वह कई लोगों के पास बट जाता है। धन उत्पन्न करने में जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनमें से जो वस्तु कोई देता है वही कुछ न कुछ लाभ का भागी बनता है। किसान जब खेती करता है, तब जब तक फ़सल आ न जाय तब तक, अपने निर्वाह के लिए अथवा खेत में लगाने के लिए जो पूँजी लाता है वह जिससे लाता है उसे उस पूँजी के

उद्योग के लिए, कुछ अंश, सूद रूप से, देता है। ज़मीन के मालिक ज़मीदार को लगान देता है। मज़दूरों को, जिन्होंने काम किया है, मज़दूरी देता है, इस तरह भूमि, श्रम और और मूल-धन का हिस्सा उनके पास जाता है। इनके सिवा राजा का कर भी देना पड़ता है। इन सबके देने के बाद जो बचता है वह उनका एक प्रकार लाभ कहा जा सकता है।

मज़दूरी, लगान और सूद का अर्थ जिस प्रकार समझा जाता है उसमें कभी कभी अन्य वस्तु भी मिली रहती है। मज़-दूरी से केवल उतना समझना चाहिए जितना केवल श्रम के बदले में दिया जाना चाहिए। बहुत से श्रमजीवियों को बहुत से हथियार रखने पड़ते हैं जैसे बढ़ई, लोहार आदि। इनको जो मज़दूरी कह कर दी जाती है वह मज़दूरी नहीं है परन्तु उसमें उस मूलधन का सूद भी मिला है जो उसको हथियार के ख़रीदने में लगा था।

भूमि अर्थात् प्राकृतिक साधन जिसमें समुद्र, नदी, पर्वत आदि का ग्रहण होता है, उसका भाग लगान कहलाता है। यदि एक कारख़ाने के मकान की जगह का लगान चाहना है तो उतना ही लगान चाहिए जो उस कारख़ाने की ज़मीन मात्र का लगान हो। उस कारख़ाना अथवा मकान का लगान नहीं लगाना चाहिए क्योंकि वह असल में उस मूलधन का सूद है जो उस मकान के बनाने में लगाया गया है। मूलधन वाले का हिस्सा वास्तव में सूद है, परन्तु आज कल जो काय करने वाले हैं उनके व्यापार मिश्रित होने के कारण केवल सूद ही नहीं वरन् और भी लाभ उसके साथ होता है। जैसे बहुत सी कम्पनियाँ हैं। उसमें पूँजी लगाने वाला डाइरेक्टर आदि के पद पर रह

कर काम करता है और उसकी तनख़ाह लेता है। उसे अति-शय कठिन कार्य करना पड़ता है। वह यही विचार करता है कि किस प्रकार इस कार्य में बचत होगी—इसी के अनुसार आदेश देता है। उस सब काम के लिए उसे अलग वेतन मिलता है जिसे निरीक्षण का व्यय कहते हैं। वह और और लोगों के वेतन से अधिक रहता है; क्योंकि उसमें परिश्रम अधिक पड़ता है। पर उसमें लगे हुए सूद के बाहर है। इसी तरह मूलधन वाले का दूसरा अंश क्षतिपूरणांश है। प्रत्येक व्यापार में कुछ न कुछ संदेह रहा करता है। जो व्यापार आज बहुत अच्छा चल रहा है कल किसी कारण से ख़राब हो जाय और हानि होने लगे, इसलिए व्यापार में धन लगाने को कोई उद्यत नहीं होगा। यदि मूलधन वाले को इस जोखिम के लिए कुछ विशेष अंश मिले तो वह अपना मूलधन लगावेगा। यह लाभ उसे इतना हो कि यदि कुछ हानि भी हुई तो पहले के लाभ से मिलकर बराबर हो जाय और सूद और निरीक्षण के वेतन की उसको बचत हो जाय।

जो धन राजा या शासक प्रबन्ध के लिए लेता है उसे कर कहते हैं।

इस तरह इन चार कहे हुए प्रकारों से धन का विभाग होता है। अब इसके अनन्तर प्रत्येक का विशेष वर्णन किया जायगा।

वेतन

श्रम करनेवाले को उसके श्रम के बदले में जो कुछ दिया जाता है उसे वेतन कहते हैं। यह वेतन अपने अपने सुभीते के अनुसार चाहे रोज़ दिया जाय या एक अठवाड़े में, या

एक मास में, या उससे भी अधिक दिन में। वेतन या मज़दूरी जिस वस्तु के उत्पन्न करने में कोई श्रमजीवी लगाया गया है, उसके हिस्से ही की असल में होती है, जैसे—धान के खेत काटने में जो मज़दूर लगाये जाते हैं उन्हें उसी धान में से काट कर लाने के बाद मींजकर मज़दूरी देदी जाती है। इसी तरह जो लोग लोहे के कारख़ाने में कार्य करते हैं उन्हें उनके श्रम के बदले में लोहा मिलना चाहिए। परन्तु श्रमजीवियों को आवश्यकता होती है खाने पहनने की चीज़ों की। इसलिए उन्हें यदि लोहा मिले तो वे भटकते फिरेंगे और उसके बदले में अपनी अभीष्ट वस्तुएँ लावेंगे। ऐसा करने में उन्हें बड़ी अड़चन होगी। इस कारण वस्तु का हिस्सा न लेकर वे उतना रुपया लेते हैं जितना वे समझते हैं कि हमारे हिस्से की वस्तु की क़ीमत होगी।

मज़दूर को सब लोगों के समान भोजन, आच्छादन की ज़रूरत होती है। उसी के लिए वह परिश्रम करता है और यही उसका यथार्थ वेतन है। अगर यह सब उसे मिलता जावे तो उसे द्रव्य से कुछ मतलब नहीं। वह द्रव्य से उन्हीं आवश्यक वस्तुओं को लेता है। इससे जब अन्न, वस्त्र महँगे होजाते हैं और उसका वेतन द्रव्य रूप में पहले ही के समान रहता है तो उसका वेतन कम हो जाता है क्योंकि जितना अन्न आदि उसे उतने द्रव्य में मिलता था उससे अब कम मिलने लगा। लोगों का ऐसा ख़याल रहता है कि पहले से दो चार रुपया साल में अधिक पाने से वे समझते हैं कि हमारा वेतन अधिक होगया और हम पहले की अपेक्षा इतने अधिक धनवान् हो गये। पर यह नहीं सोचते कि यदि अन्न का भाव भी उतनाही महँगा हो गया

तो बचत क्या हुई ? इससे यह सिद्ध होता है कि, साधारण रीति से वेतन वृद्धि तभी हो सकती है जब आवश्यक सामग्री सस्ती हो। जब कोई वस्तु मँहगी होती है तब व्यापारी कुछ लाभ उठाता है परन्तु जितना लाभ उसको हुआ उतनाही उस वस्तु के भोग करने वालों का नुक़सान भी हुआ। क्योंकि जहाँ वे अधिक परिमाण से उस वस्तु का उपयोग करते वहाँ मँहगी होने के कारण उसका कम उपयोग करते हैं। परन्तु यदि वह वस्तु सस्ती हो जाय तो सबको लाभ होगा, क्योंकि उतनी ही वस्तु उन्हें कम मूल्य में मिलेगी, इससे कारीगर और व्यापारियों को भी कोई हानि नहीं है क्योंकि नये नये उपाय और यंत्रादिकों के द्वारा नये नये कल-कारख़ाने आज कल स्थापित हो रहे हैं। पहले जो काम दस आदमी करते थे अब कल की सहायता से एक आदमी उसे करता है। कलके द्वारा अधिक काम कर सकने से उसका अंश उस वस्तु में अधिक होता है। इस तरह उसका वेतन बढ़ जाता है। वह वस्तु कम परिश्रम से बन सकने के कारण सस्ती होती है और उसका विक्रय भी अधिक होता है। व्यापारी लोग इस तरह उस वस्तु को अधिक परिमाण में बेंच सकते हैं और उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। वस्तु के सस्ते में बन सकने से वेतनवृद्धि होती है, परन्तु वह स्थायी नहीं रहती। वेतनवृद्धि देखकर और और मज़दूरों की भी उसी प्रकार के श्रम के लिए जाने की इच्छा होती है और मज़दूरों की बढ़ती हो जाने से उनके वेतन में ह्रास हो जाता है; इस तरह वेतन श्रम की खींच और आमद पर निर्भर है। मज़दूरों के वेतन के लिए लगाए हुए मूलधन की अधिकता अथवा न्यूनता भी वेतन की अधिकता व न्यूनता की कारण होती है। बिना इन

दो कारणों के वेतन के भाव में घट बढ़ नहीं होती। किसी वस्तु की अधिक परिमाण में आवश्यकता होने पर उसे बनाने के लिए अधिक मनुष्यों की आवश्यकता होती है। पर उस काम को करने वाले यदि थोड़े ही मनुष्य मिलते हैं तो वे वेतन अधिक माँगेंगे। साधारण शारीरिक परिश्रम करने वाले मनुष्य बहुत मिलते हैं। इसलिए उनका वेतन कम रहता है। बड़े बड़े काम करने के लिए बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता होती है। बुद्धि आदि बहुत कम लोगों में मिलती है इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को अधिक वेतन मिलता है। भिन्न भिन्न कार्यों के विषय में तो यह नियम है परन्तु श्रमजीवी वर्ग की समष्टि वेतनवृद्धि उस वर्ग की संख्या और उसके प्राप्य मूलधन दोनों के अनुपात पर निर्भर हैं। यदि किसी देश या स्थान में किसी समय मज़दूरों की जीविका अच्छे प्रकार चलती है या उन्हें सुख है तो उसका कारण केवल यही होगा कि उनकी संख्या उस मूलधन की संख्या से अनुपात में कम है जो वे वेतन में पावेंगे। वह धन अधिक है या कम इस से कोई मतलब नहीं पर वह मनुष्यसंख्या से अनुपात में अधिक होना चाहिए। मज़दूरों की दशा सुधारने का केवल यही एक उपाय है। इसी अभिप्राय से कई देशों में कई प्रकार के उपाय मनुष्य के विवाह को रोककर उत्पत्ति संख्या कम करने के लिए किये गये हैं। किसी देश में नियम है कि अमुक परिमाण धन बिना हुए विवाह नहीं कर सकते। अपने देश में भी इसी नियम का एक रूप देखा जाता है। बहुत सी जातियों में यह नियम है कि रूपया देकर तब विवाह करते हैं। बहुतों को रुपया न जुटने के कारण बहुत बड़ी अवस्था तक अविवाहित रहना पड़ता है। इससे संतानसंख्या कम होती है। और मनुष्यसंख्या मूलधन

के अनुपात से अधिक नहीं होने पाती। दुःख का विषय है कि इस देश के लोग मूलधन की वृद्धि की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते, इस कारण उनकी अवस्था दिन दिन ख़राब होती जाती है। विदेशी लोग नये नये कल कारख़ाना आदि की सहायता से कम श्रम में व्यवहारोपयोगी वस्तु बना बना कर हमारे यहाँ बननेवाली वस्तुओं का व्यापार बन्द करते जाते हैं, परन्तु हमारे देश के लोग इतने पश्चात्पद और अज्ञान हैं कि उन कल आदि का उपयोग नहीं करते और दरिद्र होते जाते हैं। वस्तु के भोग करने वाले भी यहाँ आई हुई विदेशी वस्तुओं को ख़रीद कर जो श्रमजीवियों का प्राप्य मूलधन था उसे कम कर देते हैं उसके कम होने से श्रमजीवियों का वेतन भी कम पड़ता जाता है। जब तक इस देश के व्यापारी नये नये आविष्कारों का उपयोग करना न सीखेंगे, खेती करने वाले यदि उन्नत उपाय से पैदावार वृद्धि करने आदि के नियम न सीखेंगे, तब तक इस देश के श्रमजीवियों की वेतनवृद्धि नहीं हो सकती।

किसी व्यवसाय में अन्य व्यवसाय की अपेक्षा अधिक या न्यून वेतन होने के कई कारण हैं जिन्हें आडम स्मिथ ने वर्णन किया है। उनमें से एक—

व्यवसाय की प्रियता वा अप्रियता

है। यदि कोई व्यवसाय कुछ आनन्ददायक है तो उसमें कुछ कम तनख़वाह रहने पर भी बहुत लोग उसकी तरफ़ झुकते हैं। सरकारी दफ़्तरों में क्लर्क की जगह में काम करने से इज़्ज़त और प्रतिष्ठा होती है। इससे उसमें बहुत लोग जाते हैं और

उससे अच्छी तनख़्वाह मिलने पर भी महाजनों के दफ़्र में नहीं जाते। इससे क्लर्कों को वेतन कम मिलता है।

व्यवसाय को सीखने में सुगमता या कठिनता, कम ख़र्च या अधिक ख़र्च पर वेतन में ह्रास-वृद्धि

जो लोग पढ़ते हैं उनमें अधिकांश गरीब रहते हैं। वे बहुत दिन तक अधिक ख़र्च लगा कर कोई विद्या नहीं सीख सकते। इस से इंजीनियरी आदि विद्याओं को बहुत कम लोग सीखते हैं। उन्हें वेतन अधिक मिलता है।

व्यवसाय के स्थायित्व वा अस्थायित्व के कारण ह्रास-वृद्धि

जब कोई मनुष्य लगातार और ठीक समय पर वेतन पाने की आशा रखता है तो वह कुछ कम ही वेतन पर राज़ी हो जाता है। यदि उसे कुछ दिन काम करने को मिला और कुछ दिन बैठा रहा तो वह अधिक वेतन चाहता है। मुहर्रिरों को बहुत काम करना पड़ता है तिस पर भी सब दिन उनको वेतन मिलने की आशा रहने से वे १०) मासिक ही में तैयार हो जाते हैं परन्तु बढ़ई को सब दिन काम नहीं मिलता इससे वे १५) वा २०) रुपया मासिक से भी अधिक वेतन लेते हैं।

कर्मचारी की विश्वसनीयता

ख़ज़ाने का काम कुछ बड़ा कठिन नहीं है। उसमें बहुत लोग जाना चाहते हैं। परन्तु यदि रूपया घटजावे या चोरी जाय

तो नुक़सान हो जाय। इससे ऐसे मनुष्य कोही यह काम दिया जाता है जो विश्वासयोग्य हो। ऐसे लोग बहुत कम होते हैं इस से उस में वेतन अधिक होता है। ज़मानत के द्वारा भी विश्व-सनीयता उत्पादन करते हैं ग्रैार वह काम धनवान् व्यक्तियों के द्वाराही हो सकता है। वे लोग थोड़े हैं इससे भी वेतन उस काम के लिए अधिक होता है।

व्यवसाय में सफलता का निश्चय

बहुत से कामों में सफलता एक प्रकार से होती है। इसे जो करते हैं वे सफल होंगे। यह निश्चय सा रहता है। इस लिए उसमें वेतन कम मिलता है। जो लोग वकीली करते हैं वे क़ानून की परीक्षा पास करते हैं। वकालत में सफलता का निश्चय नहीं रहता। विवेचनाशक्ति वक्तृत्वशक्ति आदि सब की बराबर नहीं रहतीं। इस कारण उनको बहुत वेतन मिलता है। वहीं क़ानून की परीक्षा पास किये हुए नैाकर मुंसिफ़ आदि होते हैं। उन्हें वेतन कम मिलता है क्योंकि उन्हें उस काम में सफ-लता का निश्चय रहता है। वेतन की वृद्धि का वर्णन ऊपर होही चुका है, परन्तु श्रमजीवी लोग समझते हैं कि यदि हम लोग एका कर के मूलधन वाले को लाचार करें तो वह वेतन बढ़ा देगा; इस अभिप्राय से वे "व्यवसाय-संमिलन" गठन करते हैं। इस कार्य्य के ख़र्च के लिए चन्दा देते हैं। इससे उनको बहुत लाभ भी होता है। जो जो लोग इसमें चन्दा देते हैं वे यदि बीमार हो जायँ या किसी प्रकार की घटना से काम के लायक़ न रह जायँ तो एकत्र चन्दा में से उन्हें कुछ सहायता मिलती है। यदि उसके व्यवसाय के उपयोगी कल यंत्रादि नष्ट

हो जायँ तो उसे ख़रीद दिये जाते हैं। इस प्रकार परस्पर की सहायता इस संमिलन के द्वारा बहुत होती है। और यह प्रशंसा के योग्य काम है। परन्तु इस संमिलन का एक काम पूँजी वाले को लाचार करने का है। वह एक या दो श्रमजीवी के अभियोग को न सुने पर जब सब मिल कर एक स्वरूप से कोई बात कहते हैं, किसी काम के चलाने की रीति में, किसी नियम के अच्छे या ख़राब होने के विषय में, अपना मत प्रकाशित करते हैं तो हानि के भय से उस पूँजीवाले को परवश हो कर उसका कुछ न कुछ उपाय करनाही पड़ता है। जब श्रमजीवी लोग हड़ताल करके काम बन्द कर देते हैं और जब तक उनकी इच्छा के अनुसार कार्य न हो जाय तब तक काम करना नहीं चाहते तब पूँजी वाले को उनका कहना मानना पड़ता है। ऐसा काम यदि अत्यन्त आवश्यकही है तो उसके विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा सकता। हर एक मनुष्य को अपने शरीर की रक्षा और उसके उपाय करने का अधिकार है। यदि उनके काम करने की जगह अस्वास्थ्यकर है या उनका कार्य्य शरीर को अहितकारक है तो उसके सुधार के लिए उनका ज़िद करना ठीक ही है। परन्तु जब वे बिना समझे लड़कों की तरह ज़िद करते हैं तो स्वयँ उनका नुक़सान हो जाता है। वे लोग अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्तों को नहीं जानते, इसलिए उन्हें किसी विषय की विवेचना के लिए बुद्धिमान् और ज्ञाता लोगों की सलाह से काम करना चाहिए।

संमिलन का एक उद्देश्य वेतन में वृद्धि कराना है। मज़दूरों का विचार है कि यदि हमलोग ध्यान न देंगे तो मूलधन वाला सब नफ़ा खींच लेगा और हमको वेतन कम मिलेगा। इसलिए

हमें ज़ोर देकर अपना वेतन बढ़वाना चाहिए। पर यह भूल है। यदि किसी कार्य्य में अधिक लाभ है तो श्रमजीवियों के विना ध्यान दिये उनका अभीष्ट सिद्ध हो सकता है। लाभ देखकर और भी मूलधन वाले उसी कार्य्य में लगेंगे। तब श्रमजीवी कम होने से उन्हें वेतन आपसे आप अधिक मिलेगा। ऐसी अवस्था में श्रमजीवियों का हड़ताल करके वेतन बढ़ाना मूर्खता है। जिस प्रकार श्रमजीवी लोग हड़ताल करते हैं उसी तरह अधिक वेतन न बढ़े—इस अभिप्राय से मूलधन वाले, या मज़दूरों का काम बन्द कर देते हैं। जब मालिक ऐसा करता है तब श्रमजीवियों का हड़ताल करना भी ठीक हो सकता है। मूलधन वाले को चाहिए कि लोकमत श्रमजीवियों के अनुकूल हो तो उनके अभियोगों का विचार अवश्य करें, नहीं तो उनका ही नुक़सान होगा।

चाहे मालिक करें चाहे श्रमजीवी करें, हड़ताल का समर्थन करना ठीक नहीं है। जितने दिन काम बन्द रहता है उतनाही कम माल देश में तैयार होता है और धनोत्पत्ति रुक जाती है। जहाँ धनवृद्धि अभीष्ट है वहाँ धनक्षय होना कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। यदि धननाश होने पर भी वेतन अधिक देना पड़े तो व्यवसायवाले को हानि हो जाने में संदेह नहीं है। बहुत से श्रमजीवी अपने काम करने के समय में भी कमी कराना चाहते हैं। ऐसा होने से उस व्यवसाय को कितनी क्षति पहुँच सकती है क्योंकि थोड़े काम के लिए अधिक वेतन देना पड़ेगा, और लाभ कुछ न बचेगा। कुछ दिन में व्यवसाय बन्द होने से उनकी क्षति होगी। जब लोग हड़ताल करते हैं तब बहुधा देखा जाता है, कि वे अन्य लोगों को उस काम में जाने से मना करते

हैं और कई प्रकार के उपाय करते हैं जिसमें और लोग काम न करने जायँ। परन्तु यह बिलकुल अनुचित है। यदि उतने वेतन में और लोग काम करने को तैयार हैं तो उन्हें अवश्य करने देना चाहिए। क्योंकि मालिक तो जहाँ तक कम में हो सके काम करावेगा। अगर कोई श्रमजीवो हड़ताल वालों से कम वेतन ही पर राज़ी है तो वह क्यों न काम करने पावे? उसको रोकना मानो यह कहना है कि उस व्यवसाय का अधिकार उतनेही लोगों को है। जब वे लोग काम बन्द करने के लिए स्वतंत्र हैं तो और लोग काम के लिए स्वतंत्र हैं। यही बात मालिक लोगों की तरफ़ से काम बन्द कर देने में है। यदि वे उतने वेतन में मज़दूरों से काम नहीं कराना चाहते तो मत करावें, पर दूसरे व्यवसाय के मालिकों को उसी तरह करने के लिए लाचार करना न्याय-विरुद्ध है। हड़ताल से यह निश्चय हो जाता है कि हड़ताल करनेवालों का मत ठीक है या नहीं। यदि उनका मालिक उतनेही वेतन में अच्छे आदमी पा सकता है तो सिद्ध है कि हड़ताल करने वालों ने ग़लती की और उनका वेतन यथेष्ट है। यदि मालिक को वैसे आदमी के लिए अधिक वेतना देना पड़े तो समझना चाहिए कि उनका आवेदन ग्रहण करने योग्य है। इस देश में अभी तक हड़ताल की चाल नहीं थी। कुछ दिन से बहुत होने लगी है। इस देश के श्रमजीवियों की संख्या बहुत है और व्यवसाय कम है। कल कारख़ाना आदि अधिक न होने से श्रमजीवी बहुत पाये जाते हैं। इसलिए हड़ताल होने से अन्य लोग जिन्हें उतना भी वेतन नहीं मिलता, उनके स्थान में आ जाते हैं और हड़ताल वालों का पूर्ण विचार नहीं होने पाता। परन्तु फिर भी वेतन के विषय में हड़ताल से बहुत पता लग

सकता है। हाल में बंबई में चिट्ठोरसों की हड़ताल हुई थी उनके दुःख सच्चे थे और उनका वेतन कम था। इस कारण अधिकारियों को उनका वेतन बढ़ाना पड़ा।

कभी कभी कुछ दिन तक श्रमजीवी लोग स्वाभाविक वेतन से अपना वेतन "व्यवसायसम्मिलन" के द्वारा अधिक कर सकते हैं। यदि टोपी बनाने वालों की संख्या कम कर दी जा सके तो टोपी भी कम बनेगी और उनकी क़ीमत बढ़ जायगी। क्योंकि उनके बनाने वाले थोड़ी सी चीज़ के लिए दाम अधिक पा सकते हैं। यही सोच कर बहुत से व्यवसायसम्मिलन अपने यहाँ काम करने के लिए नियत संख्या से अधिक लोग नहीं रखते और जो वह रोज़गार नहीं करता रहा है उसे अपने यहाँ आने नहीं देते। छोटे से व्यवसाय में यह चाहे हो सके। उस व्यापार वालों का उसमें एकाधिकार हो जाता है और वे अपनी वस्तु के लिए दूसरे से अधिक वेतन लेते हैं। वे एक तरह से स्वदेश भर से एक दूसरा कर ही वसूल करते हैं। इसका असर दूसरे व्यवसाय के श्रमजीवियों पर भी होता है। धीरे धीरे सबही ऐसे सम्मिलन बनाने लगते हैं और एक दूसरे से अधिक वसूल करना चाहते हैं। इस तरह सबको वह टैक्स देना पड़ता है और वेतन की वृद्धि नहीं होती।

लोगों का विचार है कि वेतन बढ़ाने का रुपया मलिक के पास से मिलता है परन्तु यह ठीक नहीं है। यदि वेतन बढ़ाना पड़े तो बिना वस्तु का दाम बढ़ाये व्यापारी अपना कारबार चला नहीं सकता। दाम बढ़ाने से वह वृद्धि उस वस्तु के मोल लेने वालों से वसूल होती है और मोल लेने वालों में साधारण

स्थिति के मनुष्य अधिक रहने के कारण वह बोझ उन्हीं पर पड़ता है।

लोग एक भूल और करते हैं। वह यह है कि वे समझते हैं कि काम धीरे धीरे करने से वेतनवृद्धि होगी, कारण यह कि और ज़्यादा आदमी उतने ही काम के लिए चाहना पड़ेंगे। श्रमजीवियों का विचार है कि जिस काम में जितने ज़्यादा मनुष्यों की आवश्यकता होगी व्यापारी को उतना ही अधिक रुपया वेतन में देना पड़ेगा और अंत में श्रमजीवियों को उतना ही अधिक वेतन मिलेगा। यदि कोई नई कल आदि निकले, जिससे बहुत कम आदमी उतना काम कर सकें, तो उनकी समझ में उनकी प्राप्ति कम हो गई और काम यदि बहुत सस्ते में और सुगमता से कर लिया जायगा तो उन लोगों का रोज़गार मारा जायगा, क्योंकि आदमी काम करने वाले बहुत हो जायँगे और वेतन कम पड़ जायगा।

यह विवेचन ऊपर से तो ठीक देख पड़ता है परन्तु है निस्सार। जब किसी काम को करने की पहले से अच्छी रीति निकाली गई है और उसके द्वारा कम समय और कम परिश्रम में वह काम हो सकता है तब भी पुराने रीति के आग्रह में पड़ने से श्रमजीवी को कम वेतन मिलने लगेगा और वे उस रोज़गार में टिक नहीं सकते। यदि किसी व्यवसाय वाले इस बात को सीखते कि कोई नई रीति जिस समय निकाली गई और परीक्षा में सिद्ध होचुका कि इसमें सफलता हुई उसी समय उसको काम में लाने लगें तो उन्हें कभी हानि नहीं होगी, बल्कि उन्हें लाभ ही होगा। विदेशी वस्तुएं जो भारतवर्ष में आती हैं वे अधिकांश यन्त्र आदि की सहायता से बनाई जाती हैं। इससे कम ख़र्च में

बन सकती हैं। इस देश वाले व्यवसायी उन्हें नई रीति से नहीं बनाते। वही पुरानी अधिक ख़र्चवाली रीति आज तक पकड़े हुए हैं। इसलिए उनके व्यवसाय का अन्त होता जाता है। कुछ दिन और इसी तरह रहने से उन व्यवसायों का नाम भी न रह जायगा। परन्तु जिस काम में उन्होंने नई रीति ग्रहण की है किसी आविष्कार को अपने परिश्रम करने में काम में लगाया है, उसमें उन्हें हानि नहीं हुई। पहले जब हाथ से कपड़े सिये जाते थे तब एक दरज़ी दिन भर में एक अँगरखा सीता था। उसकी मज़दूरी उसे मान लीजिए कि आठ आने मिलती थी। सीने की कलके आविष्कार होने से और उसे अपने काम में लाने से एक आदमी कम से कम तीन अँगरखे सी सकता है। उसको सिलाई कम से कम डेढ़ रुपया मिलती है। वह पहले की अपेक्षा अधिक वेतन पाने लगा है। इस आविष्कार को समय पर ग्रहण कर लेने ही के कारण अन्य देश से कपड़ा सीकर नहीं मँगाया जाता, नहीं तो इस देश के लोगों का सीने का भी रोज़गार बंद होगया होता। यंत्र के अविष्कार से काम सस्ता होता है सही, पर सस्ता होने से लोग वह काम और कराना चाहते हैं, इससे जो लोग अभी ज़्यादा समझे जाते हैं वे काम में लगे रहते हैं। उन्हें बेरोज़गार नहीं होना पड़ता। इसके सिवा बहुत सा काम ऐसा निकलता है जो यंत्र से नहीं हो सकता। उसके लिए आदमियों की आवश्यकता होती ही है, जैसे कपड़े सीने के लिए काटने और कच्चा करने का व्यवसाय है।

तो श्रम से जो उत्पत्ति होती है उसे बढ़ाने ही से वेतन बढ़ सकता है, घटाने से नहीं। कुछ श्रमजीवियों का वेतन किसी उत्पन्न वस्तु का वह भाग है जो लगान, सूद और कर के देने

पर बच जाता है। जब लगान आदि उतने ही हैं जितने पहले थे जब हम जितना माल अधिक उत्पन्न करेंगे उतना ही श्रमजीवियों के हिस्से में आवेगा। कलें इस काम में सहायता करती हैं। उनसे कोई हानि नहीं होती। कलों के आविष्कार से सम्पूर्ण समाज का लाभ होता है। इसलिए जो उसके आविष्कार करने लायक़ हैं या जो लोग कम परिश्रम में किसी वस्तु के उत्पन्न करने की बुद्धि रखते हैं उन्हें अपनी शक्ति को काम में लाने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता दीजावे। किसी बुद्धिमान् मनुष्य को उसके विचार किये हुए श्रम बचाने वाले उपाय से हटाना या उसे निराश करना अन्य लोगों के होने वाले लाभ को रोकना है। जो मनुष्य कुछ विशेष परिश्रम करके अपनी बुद्धि को काम में लाकर अपनी शक्ति भर नई रीति से श्रम बचाने का उपाय करता है वह अपना और मनुष्यमात्र का कल्याण करता है। मनुष्य को अभीष्ट है कि अमुक वस्तु तैयार होना चाहिए, इसके लिए कोई विशेष रीति ही क्यों हो ? वह जिस रीति से सहज में हो सके उसी रीति से करना चाहिए। हमारा यह यहाँ विशेष रीति से ध्यान दिलाने का तात्पर्य यही है कि इस देश के लोग अंधपरंपरा रीति से अपने हाथ से अपने देश को नष्ट न करें और योग्य लोगों को वे नये व्यवसाय सिखाने का अवसर देकर उन्हें सहायता दें।

मूलधनवाले और श्रमजीवी दोनों का मेल हो कर यदि कोई व्यवसाय चले तो दोनों को अलग अलग रह कर अपनी अपनी खेंचा तानी करने का कोई कारण न रह जाय।

यदि मालिक और मज़दूर दोनों साझेदार होकर व्यवसाय करें और लाभ को बाँट लें तो उनका बहुत सा झगड़ा आपही आप मिट जाय। इँगलैंड के कई स्थानों में इस प्रकार का

व्यवसाय चलने लगा है। इस रीति को "औद्योगिक अंशभागित्व" कहते हैं। ऐसा नियम रख लिया जाता है कि मज़दूरों को उनकी उचित मज़दूरी समय समय पर दी जाय। उसके पश्चात् कुशल और योग्य प्रबन्धकर्ताओं का वेतन आदि का ख़र्च दिया जाय। अन्य जो ख़र्च आ पड़ने लायक़ हों वह भी निकाल दिये जाँय और मूलधन वाले का सूद उचित भाव से अलग कर दिया जाय। तब जो बचे उसे मालिक और मज़दूर आधा आध बाँट लें। मज़दूरों को उनके वेतन के अनुपात से लाभ बाँट दिया जाय। वर्ष भर के अंत में ऐसा करने से मज़दूरों को उस व्यवसाय में विशेष परिश्रम करने की इच्छा होती है क्योंकि वे जितना परिश्रम उसमें करेंगे उतनाही अधिक लाभ उसमें उन्हें प्राप्त होगा। साल भर में उनके पास कुछ इकट्ठी रक़म भी बच जावेगी जो उनके लिए क्रम से करना असम्भव होता है। हमारे देश में कुछ कुछ यह रीति प्रचलित है और इससे लाभ बहुत उठाया जाता है। परन्तु यहाँ के व्यवसाय अल्प परिमाण में होने से उनसे कोई बड़ा लाभ नहीं होता। जो लोग इस प्रदेश में खेत के स्वामी हैं परन्तु स्वयं किसी कारण से उस काम को करने में असमर्थ हैं, वे यदि दूसरों के द्वारा खेती करना चाहें तो नौकर रख कर खेती करेंगे। परन्तु नौकर से काम कराने में एक मनुष्य उसे ताकने को चाहिए कि वह काम करता है या बैठा है तो दुहरा ख़र्च बढ़ा। इस पर भी उसका काम समय पर और ठीक रीति से नहीं होता। इस कारण यदि नौकर से कराया भी तो उससे अंत में बचत नहीं होती। इस कष्ट को दूर करने के लिए लोग ऐसा उपाय करते हैं कि जो लोग किसानी का रोज़गार जन्म से करते हैं, परि-श्रमी हैं, ऐसे किसानों को अपनी ज़मीन दे देते हैं और वे ख़ुशी

से ले लेते हैं क्योंकि उनके पास ज़मीन कम रहने से उन्हें आवश्यकता रहती है। यह ज़मीन इस शर्त पर दी जाती है कि बीज ज़मीन वाले का और किसान का आधा आधा लगे और परिश्रम कुल किसान का। ज़मीन का लगान किसान को नहीं देना होता। फ़सल आने पर आधा आधा दोनों बाँट लेते हैं। इसी रीति से खेती करने से साधारण लोगों को बहुत लाभ होता है क्योंकि श्रम करने वाले का उस व्यवसाय के फल में समान अंश रहने से वह परिश्रम अधिक करता है। यदि अन्य बड़े बड़े व्यवसाय इसी रीति से चलाये जावें तो उनमें विशेष सफलता हो और मालिक और मज़दूर के बीच में कभी वैमनस्य न हो।

दोनों के झगड़े कम करने की दूसरी विधि संयुक्त मूलधन के द्वारा सहकारित्व की है। इसमें प्रत्येक मज़दूर अपने वेतन में से कुछ कुछ बचा कर उसी व्यवसाय के कुछ हिस्से मोल ले लेता है। इसी क्रम से वह और अधिक ले सकता है। इस तरह जो लोग मज़दूर हैं वे ही मूलधनवाले हैं। वे ही अपने में से मैनेजर, डाइरेक्टर आदि चुनते हैं। उन्हें वेतन आदि भी अच्छा मिलता है इस प्रकार की संस्थाओं में भी मज़दूर लोग अच्छा काम करते हैं परन्तु इसमें एक दोष है। वह यह कि श्रमजीवियों को इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि व्यवसाव चलाने के लिए अच्छे बुद्धिमान् और विचारशील मनुष्य की आवश्यकता है। इसलिए वे वैसा मनुष्य नहीं चुन सकते। इसी कारण बहुतसी ऐसी संस्थयें नष्ट हो गईं हैं।

श्रमजीवियों को अपनी अशक्तता आदि के समय के लिए कुछ न कुछ अवश्य बचाना चाहिए और वह कोष अलग रहना चाहिए। आवश्यकता के समय वह बहुत सहायक हो सकता

है। बहुत लोगों का कहना है कि उन्हें इतनी कम आय है कि वे उसमें से बचा नहीं सकते। इस बात को हम स्वीकार करते हैं कि आय कम है परन्तु जब आबकारी विभाग की आय बढ़ती जाती है, जो बहुधा इसी वर्ग के मनुष्य के पैसे से बढ़ती है, तब हम यह नहीं कह सकते कि वे कुछ भी नहीं बचा सकते। यह उनके लिए और उनके परिवार के लिए एक आवश्यक कार्य है।

सूद

भूमि और परिश्रम के संयोग से प्रथम मूलधन की उत्पत्ति हुई। उस मूलधन में से सञ्चय करने पर जो बाक़ी बचा वह दूसरे के परिश्रम को मोल लेने के काम में लगाया जाने लगा। आगे मूलधन बढ़ने लगा। तब जितना परिश्रम जितने परिमाण मूलधन से पाया जाता था उतना अब नहीं मिलने लगा। जिस प्रकार आहारीय द्रव्य बहुत उत्पन्न होने से सस्ते हो जाते हैं और कम होने से मँहगे, उसी प्रकार मूलधन का भी वृद्धि-ह्रास होने लगा। अब मूलधन अधिक होने से उसके बदले में परिश्रम कम मिलने लगा। धन अधिक होने से मूलधन होता है क्योंकि मूल-धन धन का एक विशेष अङ्ग ही है। धन अधिक रहने से मनुष्य अपने काम लायक़ रखकर बाक़ी को अन्य लोगों को व्यवहार करने के लिए देता है। उसके व्यवहार करने के बदले में वे लोग उसके स्वामी को जो कुछ देते हैं वह सूद कहाता है। सब लोगों के पास धनोत्पादन की सम्पूर्ण सामग्री नहीं रहती। भूमि है तो मूलधन नहीं, श्रम है तो भूमि नहीं। ऐसी अवस्था में जिसके पास जो नहीं है वह दूसरे से लेकर उसका उपयोग करता है और उसका बदला उसे देता है। युवावस्था में मनुष्य

परिश्रम कर सकता है परन्तु वृद्धावस्था में नहीं कर सकता। इसलिए यदि वह अपनी युवावस्था में ही परिश्रम और मूलधन की सहायता से धनोत्पादन करके वृद्धावस्था में अपने से वह काम न हो सकने के कारण उसका व्यवहार करने को दूसरे को दे दे तो उसके बदले में उसे दूसरा मनुष्य जो देगा वह उसका प्राप्य हुआ और उस धन का व्यवहार चलता रहने के कारण देश का धनोत्पादन बंद नहीं रहा। उससे धनोत्पादन का काम होता ही रहा। जिस मनुष्य का स्वत्व उस मूलधन में है उसने न किया दूसरे ने किया, पर वह मूल धन व्यर्थ नहीं पड़ा रहा।

इस तरह जो लोग व्यवसाय करने की कुशलता का अभाव या अन्य कारणों से मूलधन का उपयोग नहीं कर सकते वे दूसरे को रुपया देकर उनसे सूद लेते हैं। इन लोगों के उस मूलधन की वृद्धि पर धन की वृद्धि और वेतन-वृद्धि निर्भर है, जो उनके व्यवहार में नहीं आता; क्योंकि मूलधन की उत्पत्ति अधिक होने से सूद कम हो जाता है और लगान, वेतन और सूद से उत्पन्न वस्तु के खर्च में सूद की कमी होने के कारण वेतन की वृद्धि हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि कोई किसान १००) रु० की कोई वस्तु उत्पन्न करता है, १५) रुपया इसमें लगान है, सूद ६) रुपया है, मूलधन जो दूसरे से लिया था वह ५०) रुपया है। तो उसे रुपया में से ७१) रुपया दे देने बाद २९) रुपया वेतन का मिला पर सूद यदि २) रुपया ही हो तो कुल देना ६७) रुपया होगा और वेतन ३३) रुपया हो जायगा। और भी यदि सूद में लाभ कम होने लगा तो मूलधन वाला स्वयं कोई रोज़गार करने लगता है या किसी व्यवसाय का

हिस्सेदार होकर अपने मूलधन की वृद्धि करता है। मूलधन बढ़ने से व्यवसाय की भी बढ़ती होती है और श्रमजीवी लोग कम पड़ जाते हैं तब भी उनका वेतन बढ़ जाता है।

इस देश में मूलधन बहुत कम है इस कारण सूद बहुत मिलता है। लोग सूद ही में अपना रुपया चलाते हैं और अन्य व्यवसाय नहीं करते। क्योंकि और व्यवसाय में लाभ का निश्चय नहीं है और इसमें अधिकतर निश्चय रहता है। विलायत आदि में मूलधन इतना अधिक है कि वहाँ सूद का व्यवसाय बहुत कम लाभदायक है। इसी से उस देश के लोग अपना मूलधन इस देश में आकर लगाते हैं और उससे लाभ उठाते हैं। इस देश के निवासी अन्य व्यवसायों की तरफ़ हाथ भी नहीं पसारते। इसका मुख्य कारण तो उनकी अज्ञानताही है। वे उन व्यवसायों को सीखते भी नहीं और न जो लोग उसके कार्य्य करने लायक़ हैं उनको व्यवहार के लिए अपना रुपया देते। उन्हें बैंक में रुपया जमा कर देना या प्राँमिसरी नोट ख़रीद लेना ही पसंद है। परन्तु व्यवसाय सीखना और करना पसंद नहीं। व्यवसायों में अन्य देश के मूलधन लग जाने के कारण इस देश के बहुत से मूलधन का काम केवल सूद का रह गया है। इसी कारण मूलधन अधिक हो गया है और सूद दिन पर दिन कम होता जाता है। बैंक आदि में जो रुपया जमा किया जाता है वह बैंक वाले उन लोगों को देते हैं जो कोई व्यवसाय कर सकते हैं परन्तु मूलधन से हीन हैं। परन्तु बैंक वाले अपने नफ़ा के लिए कुछ अधिक सूद लेंगे। इस सूद पर जो लोग रुपया लेंगे वे अन्य देश से आये हुए कम सूद पर मिलने वाले मूलधन के सामने टिक नहीं

सकते। दूसरे से रुपया ऋण लेकर भी जो व्यवसाय किया जाता है वह भी मूलधन है। बहुत लोग समझते हैं कि रुपया अधिक होने से अधिक धनोत्पत्ति हो सकेगी, परन्तु जो रुपया व्यवसाय में लगाया जाता है उससे परिश्रम, या वस्तु मोल ले सकते हैं। यदि देश में ये वस्तु अप्राप्य हों तो रुपये से धन-वृद्धि नहीं होती। रुपया, वस्तु आदि को देश में पैदा नहीं कर सकता। वह उनके बदले में अलबत्ता काम देता है। देश में इन वस्तुओं के रहते रुपया उधार लेकर इन वस्तुओं की वृद्धि करने में वह मूलधन का काम देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि देश में मूल्यवान् वस्तु के रहने से ही धन होता है। जब वह वस्तु इतनी उत्पन्न की जाती है कि साधारण ख़र्च के लायक़ काम में आकर बचजाती है तो मूलधन की वृद्धि होती है।

लगान

संसार की बाल्यावस्था में, जब मनुष्य बहुत कम थे और भूमि अधिक थी तब, जिसके जहाँ मन में आया खेती करता था, जहाँ से चाहता था लकड़ी आदि वस्तु उपयोग के लिए ला सकता था। उस समय किसी का कहीं अधिकार जमा नहीं था। धीरे धीरे मूलधन की वृद्धि होने से एक मनुष्य अन्य मनुष्य का परिश्रम मोल लेकर खेती आदि का विस्तार करने लगा और जिसमें उसके परिश्रम और मूलधन से सुधारे हुए खेत, स्थान आदि सहज में दूसरे को न मिल जायँ। इसके लिए चेष्टा करने लगा। इसी से उतने स्थान पर उसका अधि-कार वा स्वामित्व हो गया जितना उसने बलपूर्वक या अन्य

किसी प्रकार अपने वश में रक्खा। इस तरह उसका अधिकार हो जाने पर उस मनुष्य की आज्ञा बिना, उस भूमि का उपयोग दूसरा मनुष्य नहीं कर सकता। धीरे धीरे मनुष्यसंख्या की वृद्धि होने से भूमि अधिक चाहना पड़ती है, पर वह कम पड़ती जाती है। इसलिए जिस मनुष्य के पास ज़मीन है उसे यदि वह अपनी ज़मीन दूसरे को व्यवहार के लिए दे तो उसके बदले में उसे कुछ मिलने की संभावना है। जो कुछ उसे मिलता है उसी को लगान कहते हैं।

यदि पृथ्वी का सम्पूर्ण भाग एक समान होता; न कहीं पहाड़ होते और चाहे जहाँ कोई वस्तु बोई जाय वहाँ बराबर ही उत्पन्न होती और परिश्रम समान ही पड़ता तो लगान देने की आवश्यकता न पड़ती और न कोई मनुष्य किसी भाग पर अपना अधिकार जमाना चाहता। परन्तु पृथ्वी में कहीं पहाड़ हैं, कहीं चट्टान हैं, कहीं अच्छी उर्वरा भूमि है, कहीं मरुभूमि है। इसलिए यदि कोई मनुष्य पहाड़ और पत्थरवाली ज़मीन में खेती करे और दूसरा अच्छी काली ज़मीन में करे तो परिश्रम और मूलधन समान रहने पर पहले को कम प्राप्ति और दूसरे को अधिक प्राप्ति होगी।

इस अच्छी ज़मीन को सब लोग चाहते हैं इसलिए यदि उसका स्वामी स्वयं उसमें खेती न करे और दूसरे को उसे दे तो उसके स्वामी को उस ज़मीन की अधिकोत्पादकता के अनुसार लगान मिलेगा।

अब लगान का तारतम्य किस प्रकार होता है—यह विचारना चाहिए। श्रमजीवियों का वेतन और सूद मात्र जिसमें से उत्पन्न हो सकता है उस भूमि का कोई लगान नहीं दिया

जा सकता। उसी के समान परिश्रम और मूलधन से कमाई हुई उससे अच्छी ज़मीन में जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह उस समय की सबसे ख़राब जुती हुई ज़मीन की उत्पन्न फ़सल से जितना अधिक होगा वही लगान का परिमाण है।

इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर देते हैं। मान लो कि अ नामक कोई स्थान मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अच्छा है और उसके आस पास अच्छी उपजाऊ भूमि है। उसे अच्छा देख कर किसी अन्य स्थान से कुछ लोग वहाँ आकर बसे और खेती कर के अपना निर्वाह करने लगे। वह स्थान वहाँ की फ़सल आदि बेचने का एक बाज़ार हो गया। कुछ दिन के पश्चात् जब मनुष्य-संख्या बढ़ी तब पास में जितनी भूमि थी वह काम में आ चुकने के कारण उससे निर्वाह होना कठिन हो गया तो वहाँ के निवासी और दूसरे स्थान की भूमि तलाश करने लगे। वहाँ से कुछ दूर स नामक स्थान में वैसी भूमि है परन्तु वहाँ से उत्पन्न फ़सल लाने में एकड़ पीछे दो खंडी अन्न ख़र्च पड़ जाता है। अ के पास ही ब नामक स्थान है परन्तु वहाँ की भूमि उतनी उपजाऊ नहीं है। उसमें एकड़ पीछे अ की अपेक्षा १ खंडी अन्न कम पैदा होता है। ऐसी अवस्था में लोग पहले ब स्थान में खेती करेंगे तब अ नामक स्थान वाला स्वामी अपनी अच्छी ज़मीन का लगान लेगा, नहीं तो जोतने न देगा और लोग उसे उतना देने को राज़ी होंगे जो अभी जोती हुई ज़मीन की फ़सल से अच्छी ज़मीन की फ़सल का अन्तर हो। यह लगान १ खंडी होगा। कुछ दिन के पश्चात् फिर ज़मीन की कमी मालूम पड़ने से लोगों को स नामक स्थान की ज़मीन जोतने की आवश्यकता होगी। तब अ का लगान स के अनुसार स्थिर होगा अर्थात् वह

दो खंडी होगा। अब व नामक स्थान का स्वामी भी स स्थान वालों से लगान चाहेगा। उसका लगान दोनों की उत्पत्ति का अन्तर अर्थात् स की अपेक्षा १ खंडी होगा। यदि इसी तरह कोई और भी ज़मीन इससे नीचे दर्जे की हो और वह जोती जाय तो स का भी लगान हो जायगा क्योंकि बाज़ार का भाव सबसे अन्तिम दर्जे की ज़मीन में उत्पन्न फ़सल के व्यय के अनुसार रहता है और अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही लोग उस ज़मीन को जोतेंगे तो उससे अच्छी फ़सल उत्पन्न करने वाली ज़मीन का लगान हो जायगा।

इस देश के ज़मींदार लोग लगान की वृद्धि को बिलकुल नहीं समझते। नहीं तो आधुनिक विज्ञान के अनुसार लोगों को कृषि-शिक्षा देने का प्रबन्ध कर के स्वयं भी सीख कर और किसानों को अधिक मूल्यवान् वस्तु की खेती कराने का उपदेश व सुभीता देकर उनकी आय की वृद्धि कर के उनके साथ साथ अपना प्राप्य लगान भी बढ़ा सकते थे। परन्तु वे इन सब बातों की तरफ़ ध्यान नहीं देना चाहते। उन्हें अपने भोग के लिए यथेष्ट द्रव्य मिल जाने ही में संतोष हो जाता है।

भिन्न भिन्न देशों में भूमि का स्वत्व भिन्न भिन्न प्रकार का है। वह भी समय समय पर समाज की रीति के अनुसार, बदलता जाता है। धनोत्पत्ति के साधन—भूमि श्रम और मूलधन—के—एक स्वामी होने या अलग अलग स्वामी रहने के अनुसार भूमि के स्वत्वों में बड़ा अंतर होता है। कभी कभी तीनों साधनों का एक ही स्वामी होता है। जैसा दासत्व-प्रथा के समय अमेरिका के प्रदेशों में था। भूमि का स्वामी जो था वही मूलधन वाला भी था और श्रमवाला दास भी उसी का

था। उसे, उस दास से, अपनी इच्छानुसार काम कराने का अधिकार था। इस रीति में श्रम के मूल्य में ह्रासवृद्धि का कोई क्रम न होने के कारण श्रमजीवी को कोई लाभ नहीं होता। इससे वह मन से श्रम नहीं करता। उससे भूमि के द्वारा यथेष्ट लाभ नहीं हो सकता।

इस देश में मद्रास इलाक़ा और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में रैयतवारी भूमि है। उसकी मालिक गवर्नमेंट है और वही उसका लगान लेती है। खेती का काम किसान लोग करते हैं और मूलधन इत्यादि इकट्ठा करते हैं। यह भी कुछ लाभदायक नहीं है क्योंकि मूलधन आदि के पाने में उन्हें बड़ी अड़चन होती है। धनवान् लोग ज़मीन के मालिक रहने से उनसे जो सहायता मिल सकती है वह इसमें नहीं मिलने पाती। भूमि पर कोई विशेष उन्नति वे नहीं कर सकते। भूमि का स्वामित्व भी खेती करने वाले को हो तो यह रीति बहुत अच्छी हो सकती है। परिश्रम, मूलधन और भूमि; इन तीनों का मालिक होने से वह ज़मीन की उन्नति अच्छी तरह से करेगा; क्योंकि उसमें उसी का लाभ रहेगा या उसके सन्तान का। परन्तु इसमें भी बहुत से दोष हैं। स्वयं श्रम करने के कारण यदि वह बुद्धिमान् भी हो तो उसकी बुद्धि के उपयोग के लिए मौक़ा नहीं मिलता। ग़रीब होने के कारण जो बचत होती है वह घर आदि के बनाने व सुधारने ही में ख़र्च हो जाती है। ज़मीन की उन्नति नहीं होने पाती।

भूमि का स्वामित्व और मूलधन पास में रहने के कारण व परिश्रम मोल ले सकने के कारण इस देश के मालगुज़ारों का सीर ख़ुदकाश्त आदि हक़ बहुत अच्छा है। उससे उनको

अपनी ज़मीन में उन्नति करने की प्रवृत्ति होती है और वे कर सकते हैं। ज़मीन के हक़ के विषय में हज़ारों बातें हैं, उन सब का विचार इस पुस्तक में नहीं किया जा सकता। यहाँ केवल इतनाहीं दिखाया गया है कि कैसे हक़ रहने से भूमि की उन्नति कर के अधिक धन उत्पन्न करने का लोगों को उत्साह होगा।

राजस्व वा कर।

ऊपर कह चुके हैं कि वस्तु की उत्पत्ति का जो कुछ भाग राजा लेता है उसे कर कहते हैं। सब लोग ईश्वर की सृष्टि में समान उत्पन्न होने पर भी राजा और प्रजा आदि भेद क्यों धीरे धीरे हो जाते हैं। यह बात यहाँ बताने का अवसर नहीं है। यह विषय दूसरा है। परन्तु यह निश्चय है कि किसी नियत स्थान तक के वासियों का आपस का विवाद आदि मिटा कर पारस्परिक व्यवहार न्यायपूर्वक चलाने और बाहरी शत्रुओं से सब लोगों की रक्षा करने के लिए एक शक्तिशाली मनुष्य अथवा समाज का होना अत्यन्त आवश्यक है। उसके कार्य्य चलाने के ख़र्चे के लिए कर वसूल किये बिना वह काम नहीं कर सकता। राज के मुख्य काम तो वे हैं जिनके बिना किये उसका राजत्व नहीं रह सकता। जैसे बाहरी शत्रुओं को हटाना, अपने राज्य में शान्ति रखना, सबके आराम के लिए बनाये हुए नियमों को भङ्ग करने वालों को शासन कर के औरों को उससे निवृत्त रहने के लिए उदाहरण दिखाना। इन कामों के बिना किये राजा की शक्ति क्षय हो जायगी और लोगों से सहानुभूति न पाने के कारण उसका राज्य क्षय हो जायगा।

राजा के मुख्य कामों के सिवा कुछ ऐच्छिक काम भी हैं। जो काम और लोगों से अधिक कष्ट करने पर भी नहीं हो सकते उन्हें राजा सहज में कर सकता है। इसलिए उन्हें वह अपनी इच्छानुसार करता है। जैसे डाक का प्रबन्ध, सड़क और रेल, तार आदि का प्रबन्ध। राजा के ऐच्छिक कार्य असंख्य हो सकते हैं। प्रजा की स्थिति जिस काल में जैसी होती है उसी के अनुसार बहुत से कार्य्य राजा को करने पड़ते हैं। राजा के प्रबन्ध करने से बहुत बचत होती है। इसी को देख कर वह काम राजा को उस समय करना पड़ता है। वेधशाला बनाकर अनेक प्रकार के वेध-यंत्र रखने की बहुत मनुष्यों की इच्छा रहती है, परन्तु उसमें प्रत्येक को उतना ख़र्च पड़ेगा इसलिए वे नहीं कर सकते। राजा को भी उसकी आवश्यकता रहती है क्योंकि उसके भी जहाज़ आदि समुद्र में चला करते हैं, जिनमें नक्षत्र आदि के स्थाननिर्णय की आवश्यकता है। यदि और लोग उस काम को करने लगें तो राजा उसे न करे, परन्तु सब को सुभीता न रहने के कारण राजा वह काम करता है और थोड़े से ख़र्च से सब लोगों की बचत हो जाती है। यही हाल डाक आदि का है।

राजा के द्वारा कार्य्य होने में बहुत से दोष भी हैं जिनसे हानि होती है। इसलिए जो काम अन्य प्रकार से हो सकता है वह राजा को नहीं करना चाहिए। एक बार राजा के यहाँ जो नौकर काम के लिए लगाये गये वे फिर निकाले नहीं जाते। निकाले जायँ तो भी उन्हें पेन्शन आदि के द्वारा सहायता मिलती है। कोई काम यदि राजा प्रारम्भ करे तो सहसा उसको बन्द नहीं करता। चाहे उसमें हानि हो या लाभ। उसके नौकर लोग स्वतंत्र लोगों की अपेक्षा कम उद्योगी होते हैं; क्योंकि उन्हें मालूम रहता

है कि यदि वे छोड़ेंगे तो उन्हें पेंशन मिलेगी। बीच में थोड़े से मुख्य नियमों के विरुद्ध न चलने से वे निकाले नहीं जा सकते। इससे वे उतनी कुशलता से काम नहीं करते जितना और लोग कर सकते हैं। कार्य्य का विस्तार एक दम बढ़ जाने से उसका निरीक्षण अच्छी कड़ाई के साथ नहीं हो सकता। इन सब बातों से हानि होती है और मामूली की अपेक्षा इस प्रकार के प्रबन्ध में व्यय अधिक पड़ता है। इस कारण जब तक हानि लाभ का पूरा विचार न हो जाय, तब तक राजा को वह काम अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए।

राजा जो काम करता है इसके ख़र्च के लिए कर लेता है। वह प्रबन्ध कार्य स्थानीय हो या देश के विषय का हो। यह कर कई प्रकार से लिया जाता है। स्थानीय कर जैसे जल-कर, घर का कर इत्यादि है। देश विषयक जैसे भूमिकर, लवण-कर इत्यादि। हमलोगों को बहुत से कर वसूल करने की रीति न समझ पड़ने पर भी हम कर देते जाते हैं; जैसे कपड़े पर जो कर इस देश में लगा है वह न मालूम होने पर भी हम देते हैं।

कर दो प्रकार का होता है। परोक्ष और अपरोक्ष। अपरोक्ष कर वह है जिसमें उस मनुष्य से कर वसूल किया जाता है जिससे वसूल करना निर्धारित हुआ है। जैसे घर का कर जो मकान वाले को देना पड़ता है, वह उसके स्वामी ही को देना पड़ता है क्योंकि और किसी से वसूल नहीं कर सकता। परन्तु यदि वह ऐसा प्रबन्ध रक्खे कि उस मकान को किराये पर दे और उस कर के एवज़ में उनसे उतना द्रव्य वसूल करले तो वह अपरोक्ष कर नहीं रहेगा। फिर वह परोक्ष कर हो जायगा।

अपरोक्ष और परोक्ष कुछ नियत नहीं रहते। न जाने कब बदल जाते हैं।

परोक्ष कर व्यापारियों से लिया जाता है परन्तु वे उसे और लोगों से वसूल कर लेते हैं। जैसे चुंगी का कर पहले व्यापारी देते हैं। उन वस्तुओं को बेंचने के समय वे उसके लेनेवालों से उतनी क़ीमत ज़्यादः ले लेते हैं। इसी तरह आबकारी आदि हैं।

कर लगाने के कुछ नियम आडमस्मिथ ने लिखे थे जिन्हें राजा को ध्यान में रखना चाहिए।

(१) देश के प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को राजप्रबन्ध के लिए अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार कर देना चाहिए। इससे सबके ऊपर कर समान रहेगा। समान का अर्थ अनुपात का करना चाहिए। जैसे आय का इतना भाग कर होना चाहिए। ऐसा एक नियम रहे। बहुत लोग एक प्रकार के कर से बच जाते हैं। क्योंकि जिस वस्तु के द्वारा उन पर कर लगाया गया है उसका वे व्यवहार नहीं करते या वह उनके पास नहीं है इसलिए भिन्न भिन्न कई कर लगाना चाहिए।

(२) प्रत्येक मनुष्य पर कर निर्धारित रहना चाहिए, नहीं तो उसके वसूल करने वाले अपनी इच्छा के अनुसार कुछ ठगने के लिए घटा बढ़ा देंगे। अथवा उसकी वसूली में बहुत वाद-विवाद होकर समय नष्ट होगा। समय, परिमाण आदि सब निर्द्धारित रहने से ये आपत्तियाँ न होंगी।

(३) जो समय सबसे अधिक सुभीते का हो उसमें वह कर वसूल किया जाय। जैसे भूमिकर फ़सल के आने पर फ़रवरी और जून में वसूल होता है।

(४) प्रत्येक कर इस प्रकार निर्दिष्ट होना चाहिए जिसमें जहाँ तक कम हो सके उतना कम प्रजा से वसूल हो और राजकोष में उसके वसूली आदि के ख़र्च बाद कुछ बचत रहे। जिस करके वसूल करने में इतना ख़र्च पड़े कि बचत कुछ न रहे उसे वसूल करके नाहक लोगों को कष्ट देने से क्या लाभ ? यदि उस कर से व्यापार में बाधा हो और वस्तुएं महँगी हो जायँ तो वह कर लगाना योग्य नहीं है। प्रजा को कर चुकाने में समय और द्रव्य भी न लगे ऐसा ध्यान रखना चाहिए क्योंकि यदि यह कष्ट उनको हुआ तो एक और कर उनके ऊपर हो गया ऐसा समझना चाहिए।

अबाधवाणिज्य इंग्लैंड के संसर्ग के कारण इस देश में भी प्रचलित हुआ है। अबाधवाणिज्य का अर्थ यही है कि जो वस्तु जहाँ लाभ के साथ बन सकती है वह वहीं बनाई जावे, और किसी देश में एक दूसरे की वस्तुओं पर कर लगा कर व्यापार रोका न जावे। यह बात बहुत अच्छी है और व्यापार की बड़ी वृद्धि इससे हुई है परन्तु भारतवर्ष को इससे हानि के सिवा दूसरी बात नहीं हुई। अबाधवाणिज्य तुरन्त प्रचलित करने के लिए वे ही देश तैयार थे जिनमें बाष्पयंत्र इत्यादि के आविष्कार फैल चुके थे और व्यापार की वस्तुओं के बनाने में उनका उपयोग होने लगा था। भारतवर्ष तब से अब तक इस योग्य नहीं हुआ है। व्यापार और कला सब एकाएक प्रतियोगिता में न टिक सकने से क्षीण होगये और लोगों को विवश होकर खेती का आश्रय लेना पड़ा। जीवननिर्वाह के लिए प्रथम जो आवश्यक वस्तुएं हैं उन्हें उत्पन्न करके दूसरे देश में भेजने और वहाँ से विलासद्रव्य बदले में लेने से दिन दिन इस देश की उत्पादकता का

ह्रास होता जाता है और अन्य हानियाँ उसको साथ साथ दबाती जाती हैं। आश्चर्य यह है कि अन्य देश की सरकार वहाँ के कारीगरों को अपना रोज़गार करने के लिए बाउँटी या पारितोषिक देती है और इस देश में वे मनमानी प्रतिद्वंद्विता करके यहाँ के लोगों का रोज़गार नष्ट करते हैं। यह विषय यहाँ पूर्ण रूप से नहीं लिखा जा सकता। इच्छा है कि किसी समय इसका अलग वर्णन करेंगे।

विनिमय

वर्त्तमान स्थिति में धनवृद्धि का एक मुख्य मार्ग विनिमय है। एक दूसरे के साथ वस्तु की अदला बदली करने को विनिमय कहते हैं। जो वस्तु हमारे पास बची हो और उसकी आवश्यकता हमें न रहे, अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता उत्पन्न हुई हो, उस समय वैसे ही अन्य मनुष्य से हम उस वस्तु का विनिमय करेंगे जिसे हमारी वस्तु की आवश्यकता है और जिसके पास हमारी अभीष्ट वस्तु है। मान लो कि हमने कुछ गुड़ उत्पन्न किया और अपने काम के लायक़ रख लिया। अब जो बाक़ी बचा है वह हमें आवश्यक नहीं है परन्तु हमें कपास की आवश्यकता है। एक मनुष्य ऐसा है जिसने कपास की खेती की है। उसने भी अपने काम के लायक़ कपास रख ली है। और उसके पास भी कुछ बची हुई कपास रक्खी है परन्तु उसे गुड़ की आवश्यकता है तो हम दोनों अपना अपना काम करने के लिए आपस में बदल लेंगे। हम उसको गुड़ दे देंगे वह हमें कपास दे देगा।

परन्तु इस प्रकार द्रव्य के विनिमय से सब समय काम चलाना कठिन हो जाता है। जो वस्तु हम चाहते हैं वह हम

जिसे देते हैं उससे बदले में प्राप्त नहीं होती और व्यर्थ में समय और परिश्रम ख़राब होता है। ऊपर के उदाहरण में यदि हमारे पास गुड़ बचा हुआ है और कपास चाहते हैं तो हम सीधे किसी मनुष्य के पास जाकर कपास ले आवें ऐसा नहीं हो सकता। हमें पहले तो यह खोजना पड़ेगा कि कपास किस किस के पास है। फिर हम यह देखेंगे कि कपास उनके पास बचत की है कि उनके उपयोग ही के लायक़ है। यदि बचत की भी हुई तो हमको यह जानना चाहिए कि वह कपास देकर गुड़ लेगा या नहीं। यदि उसे गुड़ की इच्छा नहीं है तो हमारे गुड़ के बदले में वह कपास क्यों देगा। तब हम ऐसे मनुष्य की खोज करेंगे जिसके पास कपास की बचत रह कर उसे गुड़ से बदलने की इच्छा हो। यदि ऐसा मनुष्य कुछ दिन न मिला तो हमें बिना गुड़ के ही रहना पड़ेगा। यदि गुड़ की जगह हमें किसी प्राणधारण की सामग्री की आवश्यकता होती तो इतने अवसर में उसके न मिलने से हमारी क्या दशा होती!

इस कष्ट को दूर करने के लिए एक मनुष्य यदि बहुत सी वस्तुओं का संग्रह करके रक्खे और लोगों को जब जो वस्तु विनिमय करना हो उसके साथ वही विनिमय करले तो बहुत कुछ लोगों का समय और संशय बच जाय। अकारण उनकी हानि भी न हो। इस प्रकार के विनिमय से वाणिज्य की उत्पत्ति होती है।

असभ्य देशों में अभी तक इसी प्रकार विनिमय होता है। आफ़्रीका आदि प्रदेशों में जहाँ मुद्रा का प्रचार नहीं है, वस्तु के बदले में वस्तु लेना पड़ता है। इस देश में भी एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु लेने के उदाहरण बहुत मिलते हैं। गाँव

खेड़ा में प्रायः अन्न के बदले बहुत सी वस्तुएं जैसे दूध, दही, आम, शाक आदि प्रति दिन बिकती हैं परन्तु इस प्रथा के चलने से वस्तु के मूल्य में बड़ी गड़बड़ होगी तो पहले हमें मूल्य के विषय में ही विचार करना चाहिए।

मूल्य

बहुत सी वस्तुएं बहुमूल्य कही जाती हैं जैसे औषध। वह चाहे एक पैसे की हो अथवा वैसे ही मिल गई हो, पर उसका गुण ही उसका बहुमूल्यत्व है। अर्थात् वह उपयोगी है। वस्तु के विनिमय से जो जिसे अधिक उपयोगी है वह उसे प्राप्त हो जाती है। इस तरह उपयोगिता की वृद्धि कर के यद्यपि धन उत्पन्न नहीं हो सकता तथापि विनिमय उसकी वृद्धि करता है। इस विनिमय में जब हम मूल्य का विचार करते हैं तब हम यही देखते हैं कि एक वस्तु के बदले में हम कोई अन्य वस्तु कितनी पा सकते हैं। मूल्य के कहने से यही अर्थ निकलता है कि अमुक वस्तु के अमुक परिमाण के बदले, अमुक परिमाण दूसरी वस्तु प्राप्त होसकती है। दोनों परिमाणों में जो अनुपात सम्बन्ध है उसी को मूल्य कहते हैं। जैसे एक सेर चावल के बदले दो सेर चना मिलते हैं तो इन दोनों के बीच में मूल्य इस प्रकार प्रकाशित किया जायगा कि एक सेर चावल का मूल्य दो सेर चना है या दो सेर चना का मूल्य एक सेर चावल है। यहाँ दोनों के परिमाण का जो सम्बध है वही मूल्य है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ विनिमय समय जो परिमाण में अनुपात सम्बन्ध है उसका वहीं मूल्य है। यह मूल्य उसमें किस प्रकार उत्पन्न होता है, एक वस्तु अन्य वस्तु की अपेक्षा विंनिमय में कम अधिक क्यों मिलतीं

है ? कोई कहते हैं कि मूल्य परिश्रम के अनुसार होता है। जिस वस्तु के उत्पादन में जितना अधिक परिश्रम लगता है उतनी ही अधिक मूल्यवान् वह होती है। जैसे सोना निकालने में बहुत परिश्रम पड़ता है इससे वह बहुमूल्य है। परन्तु यह ठीक नहीं है। यदि ऐसा होता तो कुछ देशों में वही सोना धूल में मिला ज़मीन ही पर पाया जाता है उसे धोकर निकाल लेने में कोई बड़ा परिश्रम नहीं होता तो उसका मूल्य बहुत कम हो जाता। परन्तु सब सोना एक ही भाव है। इससे मालूम पड़ता है कि परिश्रम से मूल्य नहीं होता। वह इसलिए मूल्यवान् है कि जितना अभी है उससे अधिक सोना लोग चाहते हैं और लोग उसे लेना चाहते हैं इसी से वह बहुमूल्य है। इसी तरह वस्तु बहुमूल्य होती है।

यदि सोना कम परिश्रम से मिलने लगे तो बहुत लोगों के उसी तरफ़ दौड़ने से वह व्यापार अधिक होने लगेगा। सोने की उत्पत्ति अधिक परिमाण में होगी। अब यदि उसकी चाह उतनी ही बनी रहे जितनी पहले थी तो उसका मूल्य उतनाही बना रहेगा परन्तु विना उपयोग के अधिक वस्तु रखना लोग नहीं चाहते। आभूषण आदि बनाने के लिए जितना चाहिए उतना मिल जाने पर लोगों को उसकी चाह न रहेगी और जो कुछ चाह रहेगी वह पहले के समान न रहेगी; तब उतना बहुमूल्य न रह जायगा। अर्थात् लोग उसके बदले में अधिक धन देना नहीं चाहेंगे। तो किसी वस्तु के मूल्य पर उसके उत्पन्न करने में जो परिश्रम लगा है उसके अनुसार परिवर्तन नहीं होता जब तक कि वह परिश्रम उस वस्तु को अधिक परिमाण में उत्पन्न करके मनुष्यों तक न पहुँचावे और उसे पहले की अपेक्षा अधिक या कम उपयोगी न बना देवे। परिश्रम का थोड़ा असर उत्पत्ति पर होता है। यदि

वह काम कठिन हो तो उसे कम लोग करते हैं और कम वस्तु उत्पन्न होती है। उसकी उत्पत्ति के परिमाण से यह मालूम होता है कि लोग उसे उत्कंठा से और अधिक चाहते हैं यह नहीं। और इस उत्कंठा अथवा चाह का प्रभाव मूल्य पर होता है।

मूल्य स्थिर हो जाने पर विनिमय में कठिनता नहीं रहती परन्तु मूल्य स्थिर करने के लिए जिन बातों का ज्ञान आवश्यक है, यथा उसके उत्पादन का ख़र्च आदि। उन सबका उस काल में विचार करने से समय अधिक नष्ट होता है और फिर हज़ारों वस्तुओं का हज़ारों वस्तुओं से सम्बन्ध अथवा मूल्य स्थिर करने में कितनी कठिनता होगी। यदि ऐसा हो कि किसी एक वस्तु का अन्य सब वस्तुओं से मूल्य निश्चित कर लिया जाय और उसी के द्वारा अन्य वस्तुओं का विनिमय कार्य्य चलाया जाय तब भी बड़ी अड़चन होगी। मान लो कि नित्य प्रयोजनीय वस्तु में से चावल या गेहूँ का अन्य सब वस्तुओं के साथ मूल्य निश्चित कर लिया। हमें गुड़ लेना है तो गुड़ का मूल्य किस प्रकार है यह देखना चाहिए। एक सेर गुड़ का मूल्य ४ सेर चावल है। हमें १०० मन गुड़ चाहिए। उसका मूल्य ४०० मन चावल होगा। इस प्रकार के विनिमय से यद्यपि मूल्य स्थिर करने का कष्ट तो बचा परन्तु उसके बदले और भी अनेक कष्ट आ पहुँचे। बेचने वाले और लेने वाले दोनों को उतना चावल नापने, रखने, ले जाने आदि में कितना कष्ट होगा। थोड़ी दूर हुई तो ख़र्च कुछ कम होगा पर अधिक दूर हो तो फिर क्या कहना है। इसलिए मूल्यनिरूपण करने के लिए ऐसी कोई वस्तु होनी चाहिए जो लाने-ले जाने में कष्ट न दे। इस प्रकार की वस्तु बहुत काल की परीक्षा के पश्चात् स्थिर हो चुकी है कि "मुद्रा" है।

मुद्रा.

मुद्रा के प्रचार से विनिमय का कार्य्य बहुत सहज में चल सकता है। यदि जिसके पास अन्न है वह मनुष्य नमक चाहता है तो वह अपनी वस्तु से और लवण से विनिमय करने में पहले कही हुई कठिनाइयाँ भोगेगा। परन्तु यदि वह मुद्रा की सहायता से विनिमय करे तो ये कठिनाइयाँ न रह जायँगी। मुद्रा में अनेक गुण रहने के कारण अन्य वस्तु वाला भी अपनी वस्तु के बदले में मुद्रा लेने को तैयार हो जायगा। इस रीति में विनिमय दोबार करना पड़ता है। एक बार तो अन्न के बदले में मुद्रा लेना पड़ा, दूसरी बार मुद्रा के बदले में नमक। परन्तु यह विनिमय दो बार करने पर भी बहुत सहज है और अन्य प्रकार के द्रव्य से द्रव्य के विनिमय की अपेक्षा इतना अच्छा है कि सम्पूर्ण सभ्य जगत् में आपही आप प्रचलित हो गया है। यथार्थ में मुद्रा किसी काम की नहीं है। न यह खाने के काम आती न इसके द्वारा कोई जीवन-निर्वाह हो सकता है। इसके बदले में अपने पास अन्न आदि कोई देना न चाहेगा, क्योंकि इनसे प्राणधारण होते हैं। पर मुद्रा से नहीं। तथापि मनुष्य मुद्रा लेकर अन्य वस्तु देते हैं। यह केवल इसी विश्वास के कारण कि उन्हें इसके द्वारा जब जिस वस्तु की आवश्यकता होगी यही मुद्रा देकर उसे लेलेंगे। यह मुद्रा एक आज्ञापत्र के समान है कि उसे दिखाया और उस विनिमय में चाहे जो वस्तु ले सकते हैं। इसी विचार से लोग उसे लेने में नहीं हिचकते। और समय पर काम पड़ेगा यह विचार कर संग्रह करके रखते हैं। जिन लोगों के पास मुद्रा होती है उनका आदर भी केवल इसीलिए होता है। मुद्रा के रहने से नहीं। उससे कार्य्य हो सकने के कारण ही उसकी श्रेष्ठता है।

हम जो मुद्रा के द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तु संग्रह कर लेते हैं उसका कारण यह नहीं है कि मुद्रा मूल्यवान् है। वास्तव में हम मुद्रा के बदले में अन्य वस्तु नहीं पाते किन्तु अपने परिश्रम से उत्पन्न किसी वस्तु के बदले में पाते हैं। मुद्रा को एक मध्यस्थ मात्र मानते हैं। सीधे धान के बदले में गेहूँ मिलने में देर और कष्ट होता है इससे थोड़े समय के लिए धान को मुद्रा से बदल लिया। फिर मुद्रा को गेहूँ से। यहाँ वास्तव में मूल्य यदि है तो धान का; मुद्रा का कुछ नहीं।

मुद्रा भिन्न भिन्न वस्तुओं की मूल्यमापक है

बेचने और मोल लेने में केवल विनिमय मात्र होता है। जब मुद्रा के द्वारा विनिमय होता है तब कुछ परिमाण तो मुद्रा का रहता है और कुछ वस्तु का। उन दोनों के परिमाण में कुछ सम्बन्ध रहता है। यही सम्बन्ध एक की अपेक्षा दूसरे का मूल्य कहलाता है। जिस समय यह मुद्रा उपयोग में आती है उस समय उस वस्तु के बदले में जो मुद्रा दी या ली गई हो उसे उस वस्तु की क़ीमत कहते हैं। अर्थात् वस्तु के मूल्य को यदि मुद्रा रूप में कहना चाहें तो वह क़ीमत कहाती है। मुद्रा के एक बार उपयोग करने से उसका उपयोग प्रत्येक विनिमय में करना पड़ता है क्योंकि उससे बड़ा सुभीता बढ़ता है। एक वस्तु का मूल्य हम अन्य वस्तु से स्थिर कर सकते हैं। यदि यह स्थिर हो चुका है कि एक सुवर्ण मुद्रा में सात मन धान मिलता है, गेहूँ पाँच मन, चना ७ मन और कपास ३० सेर मिलती है तो हमें विना परिश्रम यह मालूम हो जाता कि हम सात है मन धान के बदले में ३० सेर कपास पा सकते हैं। यहाँ सुवर्णमुद्रा सब वस्तुओं के मूल्य की

मापक है। उसके द्वारा हम सब वस्तुओं के मूल्य की तुलना कर सकते हैं। यह सुभीता बड़ा भारी सुभीता है। हर एक वस्तु का मूल्य क़ीमत रूप से निश्चित रहने से एक दूसरे में तुलना बहुत जल्दी हो सकती है। तो मुद्रा में दो गुण हैं। वह विनिमय कार्य्य की मध्यस्थ है, और वह मूल्य धन की साधारण मापक है। मुद्रा भी अन्य वस्तुओं के समान एक वस्तु है। उसका मूल्य भी उसके अधिक हो जाने से घट जाता है। कम हो जाने से बढ़ जाता है। अधिक मुद्रा हो जाने से उतनीही वस्तु के लिए अधिक मुद्रा देनी पड़ती है और कम होने से कम।

मुद्रा किसी भी वस्तु की बनी हो उससे यह काम हो सकेगा। बहुत प्राचीन काल से लगा कर आज तक भाँति भाँति के पदार्थ मुद्रा रूप से प्रचलित हुए हैं और आज तक कौड़ी आदि का प्रचार इस देश में है। परन्तु इस कार्य के योग्य धातु ही विशेष उपयोगी हैं। अन्न आदि विनिमय के मध्यस्थ होने से जो असुविधा होती है वह धातुओं में नहीं होती और चाँदी, सोना ऐसी धातु हैं जिनमें वह अत्यन्त न्यून है। इसलिए इन धातुओं की मुद्रा होने से जो लाभ है वह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इन धातुओं की मुद्रा बहुत सुभीते की हैं इसलिए इनका उपयोग लोग बहुत करने लगे हैं। इनमें अनेक प्रकार के सुभीते हैं।

प्रथम—मूल्यवान् होने के कारण स्थानान्तर करने के योग्य हैं। सैकड़ों मन अन्न के बदले थोड़ी सी मुद्रा देनी पड़ती है इससे इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में सुभीता होता है।

द्वितीय—ये और वस्तुओं के समान क्षयशील नहीं हैं। यदि अन्य वस्तु जैसे लकड़ी या चमड़े आदि की मुद्रा हो तो

बहुत जल्दी बिगड़ जायँगी परन्तु धातु-मुद्रा उतनी जल्दी नहीं घिसतीं।

तृतीय—उनके गुण में भिन्नता नहीं होती। एक स्थान में सोना एक रक़म का, दूसरे में दूसरे रक़म का नहीं होता। यदि उनमें मिलावट हो तो उसे जाँच सकते हैं।

चतुर्थ—उनमें विभाज्यता-गुण है। उनके टुकड़े टुकड़े करने से भी उनके मूल्य में हानि नहीं होती जैसे हीरा आदि में होती है।

पंचम—उनके पहचानने की सुगमता, उनके रूप, रंग और वज़न आदि इस प्रकार के होते हैं कि उनकी नक़ल करके दूसरा सोना आदि बनाना असम्भव है। साधारण लोग भी उसके भेद को बहुत थोड़े परिश्रम से जान सकते हैं।

षष्ठ—इनके मूल्य में शीघ्रही विशेष परिवर्तन नहीं होता। अन्य वस्तुएं जो शीघ्र नष्ट हो जाती हैं भाव में बहुत घटती बढ़ती रहती हैं, परन्तु इनमें वह घटी बढ़ी इतनी नहीं होती; क्योंकि ये बहुत दिन तक ठहरती हैं और यदि खान से अधिक परिमाण में निकलने लगें तो भी उनकी एक साल की वृद्धि इतनी नहीं होती कि उनके संपूर्ण परिमाण पर अपना कुछ प्रभाव कर सके।

भिन्न भिन्न समय में ताँबा, लोहा, चाँदी, सोना आदि धातुएँ मुद्रा बनाने के काम में लाई गई हैं। एक धातु के साथ दूसरी धातु मिला कर मुद्रा बनाने की परिपाटी भी रही है। ताँबे की मुद्रा का प्रचार बहुत काल से इस देश में है। ताँबे के बने हुए टुकड़े के समान सिक्के अब तक यहाँ प्रचलित थे। परन्तु वह कम

मूल्य का होने के कारण उसमें भी एक स्थान से दूसरे को अधिक संख्या में ले जाने का सुभीता नहीं है; इसलिए सोने, चाँदी आदि के सिक्के प्रचलित हुए हैं। थोड़े मूल्य की वस्तु के लिए ताँबे आदि के सिक्के और बहुमूल्य वस्तु के लिए सोने चाँदी के सिक्के उपयोग में लाये जाते हैं।

इस देश में रुपया और गिनी का प्रचार है। सिक्कों में कुछ अन्य धातुएँ भी मिलाई जाती हैं। एक तो उन्हें कड़ा करने के लिए, दूसरे जिससे उन्हें गला कर उतना दाम न मिल सके। उसमें राज प्रतिनिधि की मूर्त्ति या अन्य कोई संकेत बना दिया जाता है। जिससे यह विदित हो कि यह मुद्रा बनावटी नहीं है और उसमें धातु का निर्दिष्ट अंश वर्तमान है।

सोने चाँदी आदि के भारी सिक्कों को भी, यदि अधिक हों तो, एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में अड़चन होती है। इसलिए लोगों ने नोट का प्रचार किया है। ये नोट एक प्रकार के प्रतिज्ञापत्र हैं जिनके द्वारा उनमें लिखा हुआ रुपया देने की प्रतिज्ञा की जाती है। सोने की गिनी यदि तीन चार हज़ार हों तो उन्हें उठाने की अड़चन होगी परन्तु उतने का एक नोट होने से कुछ भी वज़न न होगा। इसी से लोग व्यापार में बहुधा इसका उपयोग करते हैं। जब तक नोट के देने पर उसके बदले धातुमुद्रा मिल सकती है तब तक उसे परिवर्तनशील नोट कहते हैं। जब व्यापरी लोग अपने माल के बदले में नोट लेते हैं और अन्य मुद्रा नहीं मिलती, परन्तु उन्हें यह निश्चय रहता है कि उनके पास से भी वह नोट दूसरा ले लेगा, तब वह नोट अपरिवर्तनशील कहाता है।

मुद्रा का मूल्य निरूपण करने के लिए और कोई एक वस्तु नहीं है। सब वस्तुओं का मूल्य मुद्रा के द्वारा निरूपित होता है। परन्तु इसका मूल्य सब वस्तुओं के तारतम्य से निरूपण किया जा सकता है। जिस प्रकार और वस्तुएं हैं उसी प्रकार मुद्रा भी है। वस्तु का वस्तु के साथ जो विनिमय सम्बन्ध है उसे मूल्य कहते हैं। एक रौप्य मुद्रा में यदि १० सेर चावल आता है तो एक मुद्रा का मूल्य १० सेर चावल हुआ। यदि दस सेर चावल के बदले कम मुद्रा मिलने लगे तो समझना चाहिए कि मुद्रा का मूल्य अधिक हो गया है। यदि अधिक मुद्रा मिलने लगे तो उसका मूल्य कम हो गया है। इससे स्पष्ट है कि अन्य वस्तुओं के मूल्य और मुद्रा का मूल्य ये दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं। एक के कम होने से दूसरा अधिक, और एक के अधिक होने से दूसरा कम होता है।

माल की आमदनी और खपत का नियम

प्रत्येक वस्तु का मूल्य एक सा स्थिर नहीं रहता। घटता बढ़ता रहता है। वह उसकी आमदनी और खपत के अधीन है। आमदनी किसी वस्तु का वह परिमाण है जिसे किसी मूल्य पर लोग विनिमय में देने को प्रस्तुत हों। इसी तरह जो परिमाण वे लेने को प्रस्तुत हों उसे खपत कहते हैं। माल का विनिमय आवश्यकता और अप्रचुरता पर निर्भर है। जिस वस्तु से कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है और जो कम परिमाण में मिलती है उसी को लोग विनिमय करते हैं। यदि बड़ी आवश्यक भी वस्तु है परन्तु बहुत मिल सकती है तो उसे विनिमय में कोई न लेगा। जैसे वायु, मिट्टी आदि। परन्तु अवस्थाभेद में इनमें भी विनिमय के लायक गुण आ सकते हैं। शहरों में जहाँ मिट्टी खोदने के लिए स्थान नहीं वहाँ वह भी विनिमय की जाती है।

विनिमय करने के पहले यह जानना आवश्यक रहता है कि उस वस्तु की क़ीमत क्या है अर्थात् उसके बदले कितनी मुद्रा मिल सकती है। यह मालूम होने पर मनुष्य यह सोचता है कि हमको यह वस्तु कितनी लेनी चाहिए। यदि वस्तु पहले से कुछ महँगी हो जाय तो लोग उसे कम ख़रीदने लगेंगे। यदि वह प्राण धारण के लिए ही आवश्यक हो तो उसके बदले में यदि अन्य वस्तु से काम चल जाय तो उसे ही लेने लगेंगे। यदि न चले तो भी पहले के समान उसको ख़र्च न करेंगे। यदि वह वस्तु कोई विलास-द्रव्य है तो जो उसे अधिक ख़र्च करते थे वे कम ख़र्च करने लगेंगे। जो कम करते थे वे बन्द कर देंगे। यही हाल आमदनी का भी है। यदि किसी वस्तु की क़ीमत चढ़ जाती है तो जिन लोगों के पास वह वस्तु रहती है वे उसमें अधिक लाभ पाने के लिए बेचने को लाते हैं। यदि भाव उतर गया तो जिन लोगों के पास वह वस्तु है वे उसे फिर कभी भाव मिलने पर बेचने के लिए रख छोड़ते हैं।

तो अब यह नियम इस प्रकार सिद्ध होता है कि क़ीमत बढ़ जाने से आमदनी अधिक होने लगती है, खपत कम; और क़ीमत घट जाने से आमदनी कम, खपत अधिक हो जाती है। आमदनी अधिक या खपत कम होने से क़ीमत कम; और आमदनी कम या खपत अधिक होने से क़ीमत अधिक होती है।

अब किसी वस्तु की क़ीमत क्यों घटती बढ़ती है, यह समझ सकते हैं। क़ीमत इतनी होनी चाहिए कि जितनी वस्तु की माँग किसी समय हो उसकी उतनी ही उस समय आमदनी भी हो।

यदि लोग किसी क़ीमत पर वस्तु लेना चाहते हैं पर उन्हें नहीं मिलती तो उन्हें अधिक क़ीमत देकर जहाँ से मिले वहाँ

लेना पड़ता है। उसी वस्तु के अनेक लेने वाले हुए और वस्तु की आमदनी उस समय उतनी ही रही ते क़ीमत तुरन्त बढ़ जायगी। यदि लेने वाले कम हैं परन्तु बेचने वाले के पास वस्तु बहुत है ते वह रक्खे रहने की अपेक्षा कम नफ़ा में भी बेचने को राज़ी हो जायगा और क़ीमत घट जायगी।

यह घटती बढ़ती कितने भाव तक होती हैं? यदि मूल्य बढ़ता है ते उतने मूल्य तक बढ़ना चाहिए जितनी परिमाण वस्तु का अभाव है। जैसे १० मन नमक के लेने वाले हैं परन्तु नमक ५ ही मन है, ते मूल्य इस कमी के अनुसार बढ़ना चाहिए अर्थात् दुगुना हो जाना चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुओं में आवश्यकता की भी श्रेणी है। अन्न आदि प्राण-धारण की वस्तु के भाव में उसकी आमदनी कम होने के कारण जो मूल्य बढ़ेगा वह बहुत ज़्यादा बढ़ सकता है क्योंकि उसके बिना लोगों का काम नहीं चल सकता। अन्य वस्तुओं को उस समय अधिक महँगी देख कर बिना लिए रह सकते हैं परन्तु अन्नादि के बिना नहीं रह सकते। इसलिए और वस्तुओं की अपेक्षा इनकी खपत अधिक होने से इनका मूल्य बहुत बढ़ सकता है। परन्तु वह कहाँ तक बढ़ेगा? जब तक वस्तु की आमद का परिमाण उसकी खपत के परिमाण के तुल्य न हो जाय। अन्न आदि की नई फ़सल आ जाने से आमदनी बढ़ जायगी या लाभ अधिक देख कर अन्य स्थान के व्यापारी लोग उस वस्तु को वहाँ पहुँचा देंगे और परस्पर की प्रतियोगिता के कारण मूल्य कम पड़ जायगा। यदि वह वस्तु उतनी आवश्यक न हुई ते लोगों की इच्छा उसे लेने की न रह जाने से क़ीमत बढ़नी बंद हो जायगी। आमद सीमाबद्ध रहने से खपत

बढ़ जाती है और मूल्य की वृद्धि होती है। जैसे अन्नादि की दूसरी फ़सल न आने तक वह सीमावद्ध ही है; उसे किसी प्रकार उत्पन्न नहीं कर सकते। कहीं कहीं वर्तमान स्थिति में अधिक परिमाण में कुछ वस्तु उत्पन्न करने में ख़र्च अधिक पड़ता है। यह समझ कर वे नहीं बनाई जाती हैं। इससे सीमाबद्ध होती हैं परन्तु उनकी खपत अधिक होते होते उनकी क़ीमत इतनी बढ़ जायगी कि अब पहले के समान अधिक ख़र्च पड़ने पर भी लाभ होता है, तो लोग उन्हें बनाने लगेंगे और आमद में वृद्धि हो जाने से फिर खपत से समानता हो जायगी।

कहीं कहीं कृत्रिम उपाय से आमद सीमावद्ध की जाती है। जैसे अफीम, गाँजा आदि की खेती सरकार अपने हाथ में रखती है। जितनी इच्छा होती है उतनी कराकर वह मनमानी क़ीमत कर सकती है। इसमें भी मूल्य अधिक हो जाने से लेने वाले नहीं लेते या कम लेते हैं। जो माल अधिक आता है उसे यदि वेचना चाहें तो क़ीमत कम करनी पड़ेगी। इससे बचा हुआ माल नष्ट कर दिया जाता है।

खपत के कम करने का कृत्रिम उपाय हमारे देश का विदेशीवर्जन आन्दोलन भी है। उसके द्वारा बाहर की वस्तु की खपत कम होकर देशी वस्तु की खपत बढ़ती है। जो लोग पहले इस देश में उन वस्तुओं का व्यापार अन्य देश की वस्तुओं की प्रतियोगिता में करते थे वे अब सुभीते के साथ उसकी वृद्धि कर सकते हैं। जो लोग वह व्यापार नहीं करते थे वे अब अधिक खपत के कारण लाभ होते देख कर उसे करने लगेंगे।

माल की खपत बढ़ जाने से और आमद कम होने से मूल्य बढ़ जाता है परन्तु उसके लाभ को देख कर और लोग भी वही

व्यवसाय करने को तत्पर होते हैं। अपना अपना माल बेचने की सब को प्रबल इच्छा रहती है। इसी से कम मूल्य पर देने को वे तैयार हो जाते हैं क्योंकि आमद अधिक हो जाने से माल खपत की अपेक्षा अधिक आने लगता है। यह मूल्य की कमी देख कर फिर आमद में कमी होती है। जो लोग इस कम मूल्य में नहीं दे सकते वे माल की आमद बंद कर देते हैं। केवल वे ही लोग माल लाते हैं जो उतनी कम क़ीमत में दे सकते हैं। यह क़ीमत कितनी कम करके लोग दे सकते हैं? जो रुपया उस वस्तु के उत्पन्न करने में लगा और जितना श्रम उसमें पड़ा है उसका यदि प्राप्य अंश न मिले तो कोई माल नहीं दे सकता। देने से नुक़सान होगा। मूलधन के रुपयों का सूद और मज़दूरों की मज़दूरी बिना पाये व्यवसाय में कोई अधिक दिन तक नहीं लगा रह सकता। इस प्रकार के मूल्य ही को वास्तविक मूल्य कहेंगे और वस्तु की आमदनी या खपत के न्यूनाधिक्य के कारण जो मूल्य में भी फेर फार होता है वह बाज़ार दर कहाता है। बाज़ार दर विशेष कारणों से चाहे घटे बढ़े, परन्तु वह चिरस्थायी नहीं हो सकता। थोड़े ही समय में फिर उसे वास्तविक मूल्य में पहुँचना पड़ेगा।

किसी वस्तु के बनाने में जो ख़र्च पड़ता है वह स्थायी और परिवर्तनशील दो प्रकार का होता है। स्थायी तो श्रम और मूलधन का ख़र्च है और परिवर्तनशील जैसे राजस्व अथवा मूल द्रव्य, जिससे वह वस्तु बनाई जायगी उसके मूल्य की बढ़ती कमती होना।

श्रम बिना मूल धन के नहीं पाया जा सकता। इसलिए वह मूलधन और उसका प्राप्य अंश सूद ये मूल्य के मुख्य अंग

है। इसके साथ साथ उसके निरीक्षण का जो ख़र्च होता है वह भी रक्खा जाता है। जब तक इन सब ख़र्चों का परिमाण द्रव्य विनिमय से न निकले तब तक वह वस्तु व्यवसाय के योग्य नहीं रह सकती।

उधार और बैंक

व्यापार का बहुत सा काम अपने पास तुरंत रुपया न रहने पर भी उधार के द्वारा होता है। अ जब ब को कुछ रुपया या वस्तु कुछ दिन के लिए व्यवहार करने को देता है तब अ उत्त-मर्ण या लहनिया और ब अधमर्ण या ऋणी कहलावेगा। जब उधार लेकर मनुष्य व्यापार करते हैं तब योग्य व्यक्ति के हाथ में रुपया पहुँचने से उसका ठीक उपयोग कर सकता है। बहुत लोगों के पास रुपया या वस्तु रहती है परन्तु वे उसका उपयोग ठीक रीति से नहीं कर सकते। बहुत से धनी मनुष्यों के पास भी रुपया अधिक रहता है परन्तु उनमें इतनी बुद्धि नहीं होती कि किसी व्यवसाय को करके लाभ उठायें। यदि किसी में हुई भी तो जब अपना काम अच्छी रीति से चलता है तब दूसरा व्यवा-साय करने और कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है, यह सोच-कर वे उसमें प्रवृत्त नहीं होते। और कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें किसी व्यवसाय के करने की बुद्धि और शक्ति तो है परन्तु मूल-धन नहीं है। यदि ऐसे लोग उनका मूलधन पा जांय जिनका अनुपयोगी पड़ा है तो व्यवसाय अच्छी तरह से कर सकते हैं। ऐसे लोगों के पास विश्वास के लिए यदि उनकी पक्की ईमान-दारी या कुछ जायदाद हो तो उन्हें उधार में रुपया अन्य लोगों से मिल सकता है, और वे दूसरे के मूलधन से काम कर सकते हैं। यहाँ पर जिसका रुपया है वह तो केवल सूद का अधिकारी

होगा और उसे अपने रुपये के माँगने मात्र का अधिकार है। रुपये का व्यवहार जो ऋण लेने वाला है वही करेगा।

उधार कई प्रकार से दिया जाता है। कभी कभी अपने अति विश्वास-पात्र मनुष्य को लोग उधार दे देते हैं परन्तु बहुत करके बन्धक रख कर उधार देते हैं। किसी मनुष्य ने खेती करने के लिए एक गाँव लिया परन्तु अब उसके पास मूलधन नहीं है तो वह उस गाँव को बन्धक रख कर दूसरे से रुपया ले लेगा। उसके बदले में रुपया वाले को अधिकार होगा कि यदि वह रुपया न देसके तो उस गाँव को बेच कर ले ले। इस तरह हज़ारों जायदाद जिन्हें हम अभी लोगों के अधिकार में देखते हैं, वे वास्तव में उनकी नहीं हैं किन्तु अन्य लोगों का उन पर स्वत्व है। भिन्न भिन्न प्रकार का सूद इन रुपयों पर मिलता है, और जितनी क़ीमत की वह जायदाद होती है उससे कम क़ीमत पर वह बंधक होती है क्योंकि; क़ीमत का ठीक अंदाज़ न होने से उसमें संशय रहता है। इससे कुछ कम रुपया देकर कुछ बचत भावी नुकसान के लिए रख ली जाती है। उधार द्रव्य मिलना अत्यन्त कठिन काम है। उसके लिए बाज़ार में प्रतिष्ठा चाहिए। बहुत लोगों के पास जायदाद एक हज़ार की भी नहीं रहती परन्तु दस हज़ार उधार लेकर व्यवसाय करते हैं। उधार में माल लेने से अपना स्वत्व उत्पन्न हो जाता है जैसा नगद रुपये में ख़रीदने से होता है। विनिमय की सुलभता के लिए इस प्रकार के उधार के काम हुन्डी, चेक आदि के द्वारा किये जाते हैं। एक व्यापारी से दूसरे ने कुछ माल लिया, वह तुरन्त रुपया न देकर हुंडी देगा और जिसको वह रुपया निदिष्ट काल में मिलना है वह यदि तुरन्त रुपया चाहता है तो उसे बेच लेगा। निदिष्ट समय पर वह हुंडी उसके पास पहुँचने से रुपया देगा।

अधिक रुपया बैंक से ले लेने देते हैं। इस प्रकार भी बैंक का बहुत रुपया उधार जाता है।

बैंक की मुख्य आमदनी का मार्ग बट्टे का रोज़गार है। एक मनुष्य के पास तुरन्त देने को रुपया नहीं है परन्तु उसने दूसरे से कोई माल ख़रीदा तो वह एक प्रतिज्ञापत्र किसी निर्दिष्ट समय पर रुपया देने के लिए लिख देगा। रुपया पाने वाला उतने दिन तक रुपया नहीं पा सकता। परन्तु बैंकवाले उसकी विश्वसनीयता देख कर उसका रुपया दे देंगे। वह मनुष्य जो रुपया बहुत दिन में पाता उसे आज ही पा जाता है। बैंकवाले उस रुपये में से जितने दिन तक वह रुपया उसे न मिलता उतने दिन का सूद किसी ठहराये हुए भाव से लगा कर, निकाल लेते हैं। वह प्रतिज्ञापत्र अथवा बिल रुपया पाने वाले और देने वाले दोनों के द्वारा स्वीकृत होने के कारण यदि एक न देगा तो दूसरा अवश्य उसका रुपया देगा। दोनों की प्रतिष्ठा देख कर तब बैंकवाले बिल पर रुपया देते हैं। इस बिल में लिखा समय व्यतीत होने पर वह उसके लेखक को देने पर उसका रुपया मिल जाता है। इस बीच में उसकी अनेक बार बिक्री होती है। व्यापार के विषय में वाणिज्य चक्र भी एक महत्त्व की बात है। जिस प्रकार अन्य बातों में विपर्यय होता रहता है, उसी प्रकार वाणिज्य में भी होता है। उसका कारण क्या होता है यह तो नहीं मालूम हुआ है, परन्तु इतना स्थिर हुआ है कि यह चक्र प्रायः दश वर्ष का है। पहले तीन वर्ष तक कोई व्यापार मद्दा रहता है, सूद कम मिलने लगता है, क़ीमत घट जाती है; फिर प्रायः तीन वर्ष तक अच्छा रोज़गार चलता है; क़ीमत बढ़ जाती है, अच्छा सूद मिलता है, उधार का काम

बढ़ने लगता है। फिर एक दम व्यापार क्षुब्ध होने का समय आता है। हर एक मनुष्य रोज़गार करना चाहता है। बहुत सा रुपया उधार होने लगता है। अन्त में भग्नावस्था होती है और सब लोग घबराहट में हो जाते हैं। बहुत से नये रोज़गार जिन से बड़ी आशा की गई थी वे डूब जाते हैं। इस तरह एक चक्र होने पर दूसरा फिर प्रारम्भ होता है। इसलिए जब अधिक लोग किसी रोज़गार में प्रवृत्त होते हों तब बुद्धिमान् लोगों को उसमें रुपया नहीं लगाना चाहिए। पहले देख लेना चाहिए कि उत्पन्न करने लायक़ वस्तु की खपत कितनी है, कितने लोग उसमें प्रवृत्त हुए हैं और हो रहे हैं; तब उसमें हाथ डालना चाहिए। साधारण रीति से कोई व्यापार प्रारम्भ करने का सब से अच्छा समय वह है जब व्यापार मंदा रहता है। और सूद व मज़दूरी कम रहती है। इस समय काम कम ख़र्च में हो जाता है और जब तक तेज़ व्यापार आता है तब तक सम्हलने का अवसर मिल जाता है। फिर वह भग्न होने के काल में व्यापार में परास्त नहीं हो सकता।

आन्तर्जातिक वाणिज्य

कोई भी मनुष्य अपनी सब अभीष्ट वस्तुओं को अपने ही हाथ से उत्पन्न नहीं कर सकता। एक मनुष्य एक वस्तु बनाता है तो दूसरा दूसरी वस्तु। इस तरह भिन्न भिन्न वस्तु उत्पन्न करके आपस का अभाव विनिमय द्वारा पूरा करते हैं। जिस प्रकार एक देश के मनुष्यों में वस्तुओं का परस्पर विनिमय होता है उसी प्रकार इस भूमण्डल भर के देशों के बीच में भी परस्पर अभावपूरणार्थ वाणिज्य होता है। जो माल एक देश अल्प श्रम या अल्प व्यय से उत्पन्न कर सकता है उसे दूसरा देश

नहीं कर सकता। परन्तु अन्य प्रकार का माल तैयार करता है जो पहले देश में नहीं होता। एक दूसरे की वस्तुओं की आकांक्षा करता है। ऐसी दशा में अपने ख़र्च से बचा हुआ माल एक देश दूसरे को देकर उससे अपना आकांक्षित माल लेता है। भारतवर्ष में गेहूँ, कपास आदि उत्पन्न होते हैं। उन्हें देकर इंग्लैण्ड से कपड़ा लोहा आदि भारतवर्ष लेता है। इस तरह देश का देश के साथ जो वाणिज्य होता है उसे आन्तर्जातिक वाणिज्य कहते हैं।

जो वस्तु एक देश में उत्पन्न नहीं हो सकती वह वहाँ के लिए दुर्लभ है। आवश्यकता होने पर अन्यदेश से वह वहाँ मँगाई जायगी। परन्तु ऐसा भी होता है कि जो उस देश में सहज में उत्पन्न हो सकती है वह वस्तु भी वहाँ दूसरे देश से मँगाई जाती है। इस कारण यह नहीं समझना चाहिए कि उसी देश में बनाने की अपेक्षा अन्यदेशों से मंगाने में लाभ अधिक होता है। एकही स्थान में कई वस्तु बनाई जायँ और उनमें कुछ तो सस्ती और कुछ मँहगी हों तो समझना चाहिए कि पहले में बनाने का ख़र्च दूसरे की अपेक्षा कम लगा है। परन्तु आन्तर्जातिक वाणिज्य में जिन देशों में वह वस्तु समान ख़र्च और समान काम में तैयार हो सकती है। वहाँ भी अन्य देश से मँगाई जाती है। इससे मालूम पड़ता है कि उसका मूल्य उसके बनाने के ख़र्च पर निर्भर नहीं है।

भारतवर्ष में अनेक वस्तुएँ तैयार हो सकती हैं—जैसे शक्कर। परन्तु यहाँ वाले शक्कर का व्यवसाय करना नहीं चाहते और जर्मनी से शक्कर मँगाते हैं। इसका कारण यही है कि यहाँ ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जिनमें शक्कर के लाभ की अपेक्षा अधिक लाभ

हो जाता है। उससे लोग उन्हीं को करते हैं। परन्तु जर्मनी में और व्यवसायों की अपेक्षा शक्कर बनाने ही में अधिक लाभ है। इसी से वहाँ वाले उसे करते हैं। अर्थात् एक देश की वस्तुओं के उत्पन्न करने में जो खर्च पड़ता है उसकी अपेक्षा कम व्यय में जो तैयार हो सकती है या जिनमें लाभ अधिक बचता है उन्हीं वस्तुओं के साथ अन्य देश की वस्तुओं में जो जो कम व्यय में बन सकती हैं या जिनमें लाभ अधिक है उन्हींका परस्पर विनिमय होता है।

इस प्रकार के वाणिज्य से बड़ा लाभ होता है। यदि अपनी अपनी अभीष्ट वस्तु बनाने में दोनों देश लगे रहें तो जो कुछ वस्तु वे उत्पन्न करेंगे वह उनके परस्पर के अभाव पूर्ण करने के लिए जो वस्तु बनावेंगे उससे कम होगी। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न करने वाला यदि सुख से रहना चाहता है तो उसे अपनी वस्तु अधिक उत्पन्न करना चाहिए। वह उस वस्तु को जितनी अधिक उत्पन्न करेगा उतनी ही अधिक अन्य वस्तुएँ उसे विनिमय में मिलेंगी। यही हाल देश का है। जितना अधिक माल वह अन्य देश को भेज सकेगा उतनाही अधिक वह विनिमय में पा भी सकेगा। दो देशों में एक देश वस्तु उत्पन्न करने में अधिक कुशल है दूसरा नहीं है। इससे मालूम पड़ता है कि पहले देश के लोग अपने उन्नति-ज्ञान के कारण सस्ती वस्तुएँ उत्पन्न करके दूसरे देश की वस्तुओं का व्यवसाय बन्द कर देंगे; परन्तु ऐसा नहीं है। जब वाणिज्य विनिमय के द्वारा होता है तब पहले के द्रव्य के बदले दूसरे का भी द्रव्य ज़रूर बिकेगा; और उसका भी व्यापार बढ़ेगा। यदि कहो कि उन्हें तो रुपया देना पड़ेगा तो रुपया भी द्रव्य के बदलेही आता है। यदि वे द्रव्य

उत्पन्न करेंगे तो रुपया नहीं पा सकेंगे। भारतवर्ष का भी यही हाल है परन्तु उसे समय चाहिए, तब तक यहाँ के प्राचीन निवासियों का क्षय ही हुआ जाता है।

एक देश के मूलधन के अभाव को दूसरे देश का अधिक मूलधन पूर्ण करता है। इसी प्रकार श्रम का अभाव भी पूर्ण होता है और इस तरह वहाँ अधिक द्रव्य उत्पन्न होने लगता है। एक व्यापार में लाभ देख कर बहुत से लोग अन्य देश से वहाँ मूलधन भेजकर उस व्यवसाय को करने लगते हैं। कुछ समय में वह व्यवसाय इतना जम जाता है कि अन्य देश में उसका व्यवसाय उसके सामने टिक नहीं सकता; जैसे जर्मनी के रङ्ग का व्यापार। इससे यह नहीं हो सकता कि संसार भर का रङ्ग का व्यापार बन्द ही हो जाय। छोटे छोटे व्यवसाय चलते हैं और जहाँ अन्य वस्तु के उत्पन्न करने में जो लाभ होता है उस से अधिक लाभ हो या उससे कम ख़र्च में तैयार हो सकती हैं, वहीं वे तैयार की जाती हैं। देश में उपयोग के लायक़ रह कर बाक़ी जो बचती है वह अन्य देश को भेज दी जाती है।

उत्पन्न करने का ख़र्च कम भी हो पर दूसरे देश में उस वस्तु पर कर लगने के कारण वह माल रुक जाता है इसी तरह प्रतियोगिता में भी माल बन्द हो जाता है। भारतवर्ष में विदेशीय, कई जाति की शक्कर पर कर लगता है। यद्यपि उन्हीं के समा[illegible] भाव से मारिशस की शक्कर भी यहाँ आकर बिकती है परन्तु उस पर नहीं लगता। इस कारण जर्मनी आदि की शक्कर का आना घटता जाता है पर मारिशस का नहीं। इङ्गलेण्ड और अमेरिका दोनों स्थान से लोहे की कलें आती हैं परन्तु दोनों में प्रतियोगिता होने से जिसकी कलें सस्ते दाम में मिल सकेंगी

उसी की मोल ली जाँयगी । दूसरे की बन्द हो जाँयगी। यदि ख़रीद करने वालों में भी प्रतियोगिता हो जाय तो मूल्यवृद्धि हो जायगी। भारतवर्ष और चीन दोनों यदि अमेरिका का माल लेने लगें और अन्यत्र उतना सस्ता उन्हें न मिलता हो तो अमेरिका वाले जहाँ अधिक दाम पावेंगे वहीं माल बेचेंगे। दूसरे देश में माल जाना बन्द हो जायगा।

आंतर्जातिक वाणिज्य सभ्यता का एक चिह्न है। एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों से अपनी अपनी अभीष्ट वस्तु तैयार करवा कर लेते हैं और परस्पर के अभाव को दूर करके सौहार्द स्थापन करते हैं। एक देश के भिन्न भिन्न कारीगरों के बीच में कितनी प्रतिस्पर्धा रहती है। फिर सम्पूर्ण जगत् के लोगों से व्यापार में युद्ध करना कितना दुष्कर काम है। भारतवर्ष भी उसी अबाधवाणिज्य के फन्दे में पड़ गया है। उसे अपने अस्तित्व के लिए व्यापारसम्बन्धी घोर संग्राम करना चाहिए तब वह वाणिज्यरक्षा कर सकेगा। नहीं तो वह इस समय पश्चात्पद होने से नष्ट हो जायगा। पूर्वोक्त नियमों के देखने से यह विदित हुआ होगा कि जब तक वह अन्य देशों से व्यापार बढ़ा रहा है तब तक उसकी हानि नहीं है परन्तु विचार करना चाहिए कि ये वस्तुएँ जो भारतवर्ष में आती हैं वे अल्प मूल्य, विलासद्रव्य हैं और यहाँ से केवल अन्न आदि अत्यन्त उपयोगी वस्तु जाती हैं। ऐसी अवस्था में देश की अन्यान्य कारीगरी नष्ट हो कर केवल खेती ही अवलम्ब रह गया है और धीरे धीरे इस व्यापार में भी अन्य देशवासी बढ़ कर उसे परास्त करेंगे। तब उसे क्या उपाय रह जायगा? यहाँ का सब व्यवसाय विदेशी मूलधन के द्वारा परिचालित होने लगा है। धीरे धीरे सब उन्हीं के हाथ में

चला जायगा। फिर भारत का क्या भारतीयत्व रहेगा ? उसका वाणिज्य यदि बढ़ेगा भी तो उसका लाभ विदेशियों को मिलेगा और भारतवासी केवल श्रम का मूल्य मात्र पा सकेंगे। भविष्यत् के अन्धकार को देख कर लोगों को सचेत होना चाहिए।